निवेदन

प्रिय महोदय !

आपको यह ज्ञात ही है कि 'स्वर्गीय श्री पंडित ठाकुरदत्त शर्मा अमृतधारा स्थिरनिधि' से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में स्थापित वेदानुसन्धान-विभाग द्वारा तैयार की गई "विष्णु-देवता" नामक पुस्तक तैयार की गई थी, जिसकी कई लब्ध-प्रतिष्ठ वेद के विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। इस वर्ष भी इस निधि से "ऋषि-रहस्य" नामक पुस्तक वेदानुसन्धान द्वारा तैयार करा कर प्रकाशित की जा रही है। आशा है वेदप्रेमी सज्जन इसे अपना कर वेदानुसन्धान का‍र्य को प्रोत्साहन देंगे।

सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार
उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

ओ३म्

ऋषि-रहस्य

[वेदान्तर्गत कुछ विशिष्ट ऋषियों का आध्यात्मिक-स्वरूप-चिन्तन]

लेखक
श्री भगवद्दत्त वेदालङ्कार, एम. ए.
सम्पादक : गुरुकुल-पत्रिका

दिसम्बर	५००	मूल्य
सन् १९६५	प्रतियां	२.००

प्रकाशक
धर्मपाल विद्यालङ्कार
प्रशासक : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
कृते वैदिक अनुसन्धान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

◈

कॉपीराइट : मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

◈

मुद्रक
जी० आर० पाल
मैनेजर : गुरुकुल कांगड़ी प्रिंटिंग प्रेस (हरिद्वार)

प्रिय पाठक वृन्द !

विगत वर्ष श्री पडित भगवद्दत्त जी वेदालङ्कार कृत 'विष्णु देवता" नामक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। पुस्तक मे वेद और ब्राह्मणग्रन्थो के आधार पर विष्णु देवता के सम्बन्ध मे जो ऊहापोह व सूक्ष्म विवेचन किया गया है उसकी विद्वानो ने मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। इसी भाति इस वर्ष आपकी ऋषि-रहस्य" नामक एक अन्य पुस्तक प्रकाशित हो रही है। इस में वेद मे आये अयास्य दधीचि तथा कण्ववशी कुछ ऋषियो की आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विवेचना की गई है। आज वेद के ऋषि महान् विवाद के विषय बने हुए हैं। आजकल के पाश्चात्य विद्वान् और उनकी पद्धति पर चलने वाले भारतीय विद्वान् वेदो को ऋषियो का बनाया हुआ मानते हैं। वेद के सूक्तो और अध्यायो के आरम्भ मे जो भिन्न-भिन्न ऋषियो क नाम लिखे रहते हैं वे उन-उन मन्त्रो के बनाने वाले हैं, ऐसी धारणा इन आधुनिक विद्वानो की है। कुछ मन्त्रो के जो ऋषि हैं उनके नाम स्वय उन

मन्त्रों के भीतर पाये जाते हैं। इससे ये आधुनिक विद्वान् और भी दृढ़ता से यह परिणाम निकालते हैं कि ऋषि वेद मन्त्रों के रचयिता ही हैं। उनकी सम्मति में इन मन्त्रों में इन ऋषियों का नाम आना ऐसा ही है जैसा कि आजकल भी कितने ही कवि अपनी कविताओं में अपने नाम रख दिया करते हैं। इसके विपरीत पंडित भगवद्दत्त जी वेद की अन्तःसाक्षी तथा आर्षपरम्परा का अनुसरण करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि वेद परमात्मा द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों पर प्रकट किये ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ हैं। इसी धारणा के अनुसार उन्होंने अपनी इस पुस्तक में वेद के प्रमाणों व ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वेद के ऋषि किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं हैं। पुस्तक लिख कर श्री पंडित भगवद्दत्त जी ने विवादास्पद वेद के ऋषियों के सम्बन्ध में वेद तथा आर्षपरम्परा को पुष्ट किया है। गुरुकुल के वैदिक अनुसन्धान विभाग की ओर से यह पुस्तक स्वाध्याय प्रेमी जनता के सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है। जिस प्रकार श्री पंडित भगवद्दत्त जी की पूर्व प्रकाशित रचनायें

वैदिक-स्वाध्याय प्रेमी सज्जनों ने पसन्द की हैं। आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक भी उसी प्रकार पसन्द की जावेगी।

प्रियव्रत वेदवाचस्पति
आचार्य
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विषय-सूची

ऋषि दधीचि

कण्ववंशी ऋषि

मेध्यातिथि

प्रगाथ ऋषि

त्रिशोक ऋषि

प्राक्कथन

प्रिय पाठक वृन्द !

हमने इस पुस्तक में वेदों के कुछ विशिष्ट ऋषियों के स्वरूपनिर्धारण का प्रयत्न किया है। प्रश्न यह है कि वेदों में 'ऋषि' शब्द से क्या अभिप्रेत है ? देवताओं आदि से उसका क्या सम्बन्ध है इत्यादि अनेकों विवादास्पद विषय हैं जिनका स्पष्टीकरण होना अत्यन्त आवश्यक है। 'ऋषि- विवेचन' कर के हमने विस्तार से ऋषि सम्बन्धी अनेकों विषयो का स्पष्टीकरण किया हुआ है। वह फिर कभी यथावसर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा। यहां केवल ऋषि सम्बन्धी कुछ सक्षिप्त विवेचन ही आपके सामने रखते हैं—

ऋषि-विवेचन

कुछ समय से वेदों के ऋषि महान् विवाद के विषय बने हुए हैं। इनके सम्बन्ध में प्रमुख समस्या

यह है कि वेद मन्त्रों पर जो ऋषि लिखे जाते हैं, वृहद् देवता व सर्वानुक्रमणी आदि में मन्त्रों व सूक्तों के जो ऋषि दिये गये हैं, क्या वे उन सूक्तों व मन्त्रों के रचयिता हैं ? या केवल उनके द्रष्टा ही हैं। इस विवेचनीय विषय के सम्बन्धमें प्रमुख रूपसे दो तीन वाद प्रचलित हैं जो कि इस प्रकार हैं—

१ ऐतिहासिक

२ अर्द्धपौरुषेय

३. अपौरुषेय

इनमें अर्द्धपौरुषेय का भाव यह है कि मन्त्रनिहित ज्ञान तो भगवान् का है पर मन्त्रसंगठना, मन्त्रमें शब्दविन्यास आदि ऋषिकृत है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाये तो यह वाद भी ऐतिहासिक वाद के ही अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है। एक प्रकार से ऋषियों के सम्बन्ध में दो ही वाद समझने चाहिये। इन दोनों की व्यापक जानकारी के लिये जिज्ञासु पाठकों को दोनों प्रकार के विद्वानों के ग्रन्थों व लेखों का अवलोकन करना चाहिये।

हम वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। वेदों से लेकर आर्षपरम्परा तक जितना भी वैदिक वाङ्मय है उस में वेदों को एक स्वर से अपौरुषेय माना गया है।

वेदों के अपौरुषेयत्व को सिद्ध करने के लिये वेदों के अतिरिक्त जितना भी ऋषिप्रणीत वैदिक वाङ्मय है, उस पर भी हमें दृष्टिपात कर लेना चाहिये। ब्राह्मण, आरण्यक, सूत्र, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, स्मृति व पुराणादि ऋषिप्रणीत सब ग्रन्थ स्कन्द, यास्क आदि आचार्यों द्वारा रचित निरुक्त, न्याय, मीमांसा व योग आदि दार्शनिक ग्रन्थ तथा मध्यकालीन सायण व उव्वट आदि भाष्यकार तक सब एक स्वर से वेदों को भगवान्से उत्पन्न मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य जाति के कल्याणार्थ सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने ऋषियोंके हृदयों में वेदों का प्रकाश किया था। इन सब उपर्युक्त ग्रन्थों के उद्धरणो को अपौरुषेयवादी विद्वानों ने अनेक बार अपने लेखों व

पुस्तकों में उद्धृत किया है, उन सब को यहां न दिखाकर दो एक उदाहरणों पर हम कुछ अपने विचार प्रस्तुत करते हैं । वेदों के अपौरुषेयत्व व वेद के ऋषियों के स्वरूप निर्धारण में निम्न दो श्लोक अति महत्व रखते हैं । वे इस प्रकार हैं—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।
(मनु० १।२१)

सृष्टि के आदि काल में विश्व के सर्जनहार भगवान् ने वेदके शब्दोंसे चेतन व अचेतन सभी वस्तुओं के नाम रखे और उनके पृथक्-पृथक् कर्म निर्धारित किये और पृथक्-पृथक् संस्थान बनाये ।

मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो इसका भाव यह प्रतीत होता है कि सृष्टि का प्रारूप (Plot) सब वेद से लिया गया । पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक आदि का पृथक्-पृथक् संस्थान तथा लोकों के

अवान्तर संस्थान चेतन व अचेतन पदार्थों, शक्तियों व प्राणियो के पृथक्-पृथक् नाम व उन के विविध कर्मों का विभाजन इत्यादि सृष्टि की सभी गतिविधियो का प्रचलन व स्वरूप निर्धारण वेद के आधार पर किया गया ।

एक दूसरा श्लोक इस प्रकार है—

ऋषीणा नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टय ।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥

वेदों मे आये ऋषि नाम और उन में जो दृष्टिया निहित हैं, उन्ही नामों व दृष्टियों को वह अजन्मा भगवान् प्रलयान्त (सृष्टि के प्रारम्भ) मे समुत्पन्न मानव ऋषियोको प्रदान करता है ।

उपर्युक्त इन दोनों श्लोकों से निम्न बातें ध्वनित होती हैं—

१–एक तो यह कि सृष्टि निर्माण से भी पहिले वेद विद्यमान थे । इसलिये इन्हे मानव ऋषियो की रचना नही माना जा सकता ।

२–दूसरी बात जो इन श्लोकों से ध्वनित होती है वह यह कि सभी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम सृष्टि के प्रारम्भ में अजन्मा भगवान् ने स्वय रखे हैं।

३–तीसरी बात यह है कि ये सब ऋषि नाम वेद से लेकर रखे गये हैं।

इन से दो समस्याओं का हल हमें मिल जाता है। वह यह कि कई ऋषि नाम तो वेदों में साक्षात् पठित हैं। पर कई ऋषि नाम जो सूक्तों के आदि में तो आते हैं–वेदों में नही हैं। प्रश्न यह है कि वे कहा से लेकर रखे गये? इस सबन्ध में प्राचीन मत यह प्रतीत होता है कि जो वेदो में दृष्टिया हैं (याश्च वेदेषु दृष्टय) जिनको वेदों में व्यक्तित्व-का रूप नही दिया गया, उन को भी व्यक्तित्व का रूप भगवान् द्वारा ही दिया गया है और वे सूक्त के आदि में रखे गये हैं। ऐसे सूक्तों में हमें ऋषि विक-ल्प से नही डरना चाहिये, क्योंकि ये विकल्प विविध

दृष्टियां ही हैं । इन ऋषियों अर्थात् दृष्टियों का स्वरूप हमें स्पष्ट करना चाहिये और उनके आधार पर मन्त्रों के अर्थों का निर्णय करना चाहिये । इस श्लोक की यह स्पष्ट ध्वनि है कि जब अजन्मा भगवान् ही मानव ऋषियों को उनके नाम प्रदान करता है तो यह निसर्ग सिद्ध बात है कि सभी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम उसने ही रखे होंगे और यह उचित भी नही प्रतीत होता कि किन्ही मन्त्रद्रष्टा ऋषियो पर तो भगवान् इतने कृपालु हों कि स्वय उनका नाम-करण सस्कार करें और किन्ही मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को प्रजा की कृपा पर छोड़ देवे । हमें यह मानना चाहिये कि सभी मन्त्रद्रष्टा मानव ऋषियों-के नाम चाहे वे मन्त्रों में पठित हों या न हों भगवान् की तरफ से ही ऋषियों को दिये गये ।

दूसरी समस्या जिन का हल इन श्लोकों से होता है, वह यह है कि वैदिक सूक्तों पर ये ऋषि नाम सृष्टि के आदि में ही रखे जाते हैं, पश्चात् भावी मानवों को यह अधिकार नही है कि वे

मन्त्रद्रष्टा के रूप में किसी भी आधुनिक ऋषि का नाम सूक्त के आदि में लिखे । प्राचीन परिपाटी भी इसी तथ्य की ओर निर्देश कर रही है । यदि सूक्त के आदि में किसी भी मन्त्रद्रष्टा मानव ऋषि का नाम लिखना मनुष्यों के अधीन होता तो वेदव्यास, याज्ञवल्क्य आदि महान् व प्रसिद्ध ऋषियों के नाम भी मन्त्रद्रष्टा के रूप में अवश्य लिखे जाते । परन्तु ऐसा नही हुआ । इस से यही प्रतीत होता है कि सृष्टि के आदि में भगवान् ही आद्य ऋषियों को वेदों से नाम प्रदान करता है ।

तीसरी समस्या जो कि अत्यन्त प्रमुख है और वेद के ऋषियों के सही चित्रण का मार्ग प्रशस्त करती है, वह यह कि जब मन्त्रद्रष्टा मानव ऋषियों के सब नाम वेदो से ही ले कर रखे गये हैं तो वे ऋषि नाम भी वेदों के समान नित्य हैं । अतः वेद के ऋषियों पर विचार करने के लिये मानव ऋषियों को बीच में लाने की आवश्यकता ही नही और फिर वे ऋषि नाम मन्त्रार्थ में सहा-

यक हैं, अत. उन ऋषि नामो को मन्त्रो से बाहर निकाल कर सूक्त के आदि में रखे या न रखे इस से उन के स्वरूप में किञ्चिन्मात्र भी भेद नही आता । उन ऋषि नामों को सूक्तों के आदि मे लिखना मन्त्रार्थ मे सुगमता के लिए है ऐसा हम कह सकते हैं।

वेदोत्पत्ति के माध्यम

वैदिक-साहित्य में वेदों के अवतरण की भूमिया व माध्यम अनेकों बताये गये हैं । यथा वाक्, गायत्री, ब्रह्मा, ऋषि, तीन लोक, तीन देव आदि वेदो के आविर्भाव के माध्यम है । इन सब पर यहा विस्तार से विचार कर वेदाविर्भाव की प्रक्रियाओं को दर्शाना तो कठिय है परन्तु सक्षेप में कुछ विवेचन करते हैं।

वेदों को अपौरुषेय मानने वाले विद्वानों का मत यह है कि पृथिवी पर जिस समय सर्वप्रथम मनुष्यों की अमैथुनी उत्पत्ति हुई, उस समय अग्नि,

वायु, आदित्य और अथर्वा इन चार ऋषियों को वेदों का ज्ञान हुआ । इन के मत में अग्नि, वायु, आदित्य आदि ये मानव ऋषि माने जाते हैं । जिन के मन रूपी निर्मल दर्पण पर सर्वप्रथम वेदों का प्रतिबिम्ब पडा । परन्तु जब हम वैदिक ग्रन्थो के उन प्रकरणों पर दृष्टिपात करते हैं, जिनमें वेदाविर्भाव की प्रक्रियाओं को दर्शाया गया है, तो हमें उनमें समस्वरता स्पष्ट नही होती है । अत हम उन पर सक्षेप में विचार करते हैं ।

अथर्ववेद का एक मन्त्र है—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतम. स्विदेव सः ॥

अथर्व० १० । ७ । २०

'जिस स्कम्भ रूप भगवान् से ऋचाओं को पृथक् करके तक्षण किया गया है । यजुर्वेद जिससे खैंच कर बाहर निकाला गया, सामवेद के मन्त्र

जिसके रोमों के समान हैं और अथर्वाङ्गिरस जिस का मुख है ।'

यह मन्त्र अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त का है । यह स्कम्भ सर्वाधार परब्रह्म ही है । स्कम्भ के अलङ्कार से वेदों की उत्पत्ति भी यहां आलङ्कारिक रूप में वर्णित हुई है । परन्तु यह स्मरणीय है कि इस सर्वसत्य ज्ञान के आगार वेदों में केवल अलङ्कार ही नही होता, क्योंकि अलङ्कार में शाश्वतिक विज्ञान के समान सत्यासत्य की विवेचना नही होती । परन्तु वेद सत्य पर प्रतिष्ठित है — '**वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्** ।' (महाभारत) ।

अलङ्कार के साथ-साथ वस्तु के सत्यरूप, क्रिया व घटना की सच्ची प्रक्रिया को भी बताता है । अतः हमारे विचार में उपर्युक्त मन्त्र में जो 'अपातक्षन्' 'अपाकषन्' 'लोमानि' 'मुखम्' आदि क्रिया व पद दिये हैं, वे उनकी उत्पत्ति सम्बन्धी विशिष्ट प्रक्रिया व उन के स्वरूप की ओर निर्देश

कर रहे हैं । यह विशिष्ट स्वरूप व प्रक्रिया क्या है, इस की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थो में की गई है । यह हम फिर कभी आपके सामने विस्तार से रखने का प्रयत्न करेंगे ।

इस प्रकार वेद के ऋषियों के सम्बन्ध में हमने अपनी मान्यता के अनुसार यह सक्षिप्त प्राक्कथन यहां दिया है । इस सम्बन्ध में विस्तार से पूर्वापर पक्षो को दर्शाते हुये ऋषि-विवेचन नाम से अन्यत्र विचार किया हुआ है जो कि फिर कभी अवसर प्राप्त होने पर आप सहृदय पाठको के समक्ष रखने का प्रयत्न करेंगे ।

इतिशम्

✱

ओ३म्

ऋषि-रहस्य

(आध्यात्मिक-विवेचन)

अयास्य ऋषि

प्राणों का आदि स्रोत

जिस समय भगवान् प्रकृति से सृष्टि बनाता है तो उस समय मूल प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहकार से पञ्चतन्मात्राए इत्यादि क्रम से नानाभांति के पदार्थ व तत्व एक दूसरे से निकलते जाते हैं, जिससे अन्त में यह असंख्य पदार्थों व नाना रूपों वाला ससार बन जाता है। परन्तु जब वही भगवान् सर्वत्र फैले हुए ससार रूपी विकट जाल को समेटना चाहता है तो जिस प्रकार पदार्थ अपने-अपने कारणों से निकलते चले गये थे उसी प्रकार ही वे अपने-अपने कारणों में लीन होते चले जाते हैं। और अन्त में वही मूल प्रकृति बच रहती है। इसी प्रकार की प्रक्रिया हमारे सूक्ष्म शरीर

में भी होती है। हमारा शरीर भी एक छोटा सा ब्रह्माण्ड है। प्रकृति के अंशों से इसके सब अवयवों का निर्माण हुआ है। स्थूल शरीर धारण करने से पहले मन व इन्द्रिया आदि सूक्ष्म शरीर की शक्तिया आत्मा में लीन थी। मातृगर्भ में आने पर शनैः २ इन शक्तियों का प्रसार स्थूल शरीर में होता जाता है और अन्त में शरीरधारी पुरुष की उत्पत्ति हो जाती है। मातृगर्भ से बाहिर आने पर ये शक्तियां स्वयं मनुष्य में प्रवृद्ध होती हैं। और साधना द्वारा प्रवृद्ध भी की जा सकती हैं। और फिर अन्त मे मृत्यु[१] के समय पुरुष को मन व इन्द्रियां आदि सूक्ष्म शक्तियां अपने-अपने पूर्व आयतनों में लीन होती जाती हैं और अन्त में आत्मा में स्थित हो इस शरीर-रूपी पिञ्जड़े को छोड़ देती हैं।

अब यहा विचारणीय प्रश्न यह है कि हम जीवन मे इन ऐन्द्रियिक शक्तियों को साधना

---

१. सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। छा० उ० ६।८।६

आदि द्वारा कहां तक प्रवृद्ध कर सकते हैं ? मृत्यु समय तो मनुष्य का इनके ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं होता। इसलिये ये इन्द्रिया आदि अपने कारणों मे लीन होने पर भी महान् व दिव्य कार्य नहीं कर सकती। परन्तु प्रज्ञान-आत्मा अपने जीवनकाल में इस शरीर के आधार पर पूर्व कारणों व आयतनों मे पहुच सकता है, और वहाँ जो महान् दिव्य रचनाए व अभिव्यक्तियां हैं, उनकी झांकी ले सकता है। और इस ससार मे वास्तविक रहस्य क्या है ? यह जान सकता है। इस अन्तर्मुखीन अवस्था को दिखाने वाले प्राचीन शास्त्रों मे कई प्रकरण आते हैं। उन में एक अयास्य ऋषि का भी प्रकरण है जो कि अन्तर्मुखी अवस्था को बताने वाला है। इसलिये इस लघु निबन्ध में हम अयास्य ऋषि के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

अयास्य कोई प्राचीन व्यक्ति है कि नही, इस सम्बन्ध में हम विशेष विस्तार से विवेचन न करेंगे। केवल मात्र इतना लिख देना उचित होगा कि ब्राह्मण व उपनिषदादि प्राचीन ग्रन्थों मे अयास्य को कोई मानव-व्यक्ति नही माना है ।

क्योंकि अयास्य की व्युत्पत्ति दी गई है। किसी व्यक्तिवाची नाम की व्युत्पत्ति नहीं हुआ करती। इसलिये वेद व ब्राह्मणादि ग्रन्थों में वर्णित अयास्य कोई व्यक्ति नहीं है, यह एक दृष्टि व अवस्था है जो कि आगे प्रकरण से स्पष्ट हो जायेगी। यही मानकर हम यहां इस सम्बन्ध मे विचार करते हैं।

इस सम्बन्ध मे हमारी मान्यता यह है कि अयास्य मुख्य प्राण है जो कि आस्य अर्थात् मुख मे रहता है। परन्तु यह आस्य सामान्य मुख नहीं है। यह मुख (आस्य) सप्तद्वारों में बट जाने वाली वाक् (सप्तद्वारावकीर्णा वाच०–मनु) व प्राण का मुख है। यह एकीभूत वाक्–धारा जिस स्थान पर पहुच सप्तद्वारों मे बंटती है वह स्थान आस्य अर्थात् मुख है। उस आस्य में रमने वाला प्राण अयास्य है। इस अयास्य नामक प्राण का स्पष्टीकरण छान्दोग्य जैमिनीय, बृहदारण्यक आदि वो तीन उपनिषदों में आता है। इन उपनिषदों के कथानकों में कुछ विभिन्नता अवश्य है परन्तु सबका भाव या रहस्य समान है। इसलिये उदाहरण के तौर पर बृहदारण्यकोपनिषत् के अयास्य सम्बन्धी कथानक को हम यहां दिखाते हैं।

कथानक के आधार पर श्रयास्य श्रंगिरा ऋषि का पुत्र माना गया है। यह हम देख चुके हैं कि श्रयास्य कोई मानव व्यक्ति नहीं है। श्रंगिरा ऋषि का इसे पुत्र मानना एक श्रालंकारिक वर्णन है। ब्राह्मण व उपनिषत् श्रादि ग्रन्थों में इसकी व्युत्पत्तियां इस प्रकार श्राती हैं कि श्रसुरों ने कहा१ कि "श्रयमास्ये" यह तो श्रास्य (मुख) में है। इसलिये इसको 'श्रयमास्य' कहने लगे। यही 'श्रयमास्य' नाम बिगड़ते-बिगड़ते श्रयास्य होगया। इसी प्रकार श्रयास्य की श्रौर भी कई व्युत्पत्तियां श्राती हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं कि यह श्रयास्य ऋषि श्रास्य (मुख) में रम रहा है। यह श्रास्य में रक्खा हुश्रा है।२ यह

---

१. ते (श्रसुराः) श्रब्रुवन्नय वा श्रास्य इति। यदब्रुवन्नय वा श्रास्य इति तस्मादयमास्यः। श्रयमास्यो ह वै नामैषः। तमयास्य इति परोक्षमाचक्षते। जै. उ. २।३।२।७

२ स एष एवायास्यः। श्रास्ये धीयते तस्मादयास्यः। यद्वेवायमास्ये रमते तस्माद्वेवाऽयास्यः। जै० उ० २।४।२।८

आस्य के अन्दर है,१ यह आस्य से गति करता है२ इत्यादि । इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि मुख में रहने वाला यह अयास्य नाम किसी मानव व्यक्ति का नहीं है ।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों की अयास्य सम्बन्धी व्युत्पत्तियों से यह पता चलता है कि आस्य अर्थात् मुख में होने के कारण इसको अयास्य कहते हैं अब विचारणीय यह है कि मुख में होने वाला यह अयास्य क्या है ? जै. उ. ब्रा. १।३।२।८ में आता है कि 'स प्राणो वा अयास्यः' वह प्राण ही अयास्य है। इस प्रकार अयास्य की उपर्युक्त व्युत्पत्तियों और इस उद्धरण को देखने से हम स्थूल दृष्टि से यह अनुमान लगा सकते हैं कि अयास्य नाम प्राण का है जो कि मुख में रहता है । परन्तु विचारणीय यह है कि मुख में यह अयास्य नामक प्राण किस स्वरूप से रहता है। वैदिक शास्त्रों में मनुष्य के अन्दर रहने वाले प्राण को स्थूल रूप से १० भागों में विभक्त

---

१. अयमास्ये अन्तरिति सोऽयास्यः । बृ० उ०

२. आस्याद् यदयते । छा० उ० १।२।१२

किया गया है और इनके अपने-अपने स्थान बताये गये हैं। इन प्राणों का स्थूल रूप से अपना प्रारम्भिक स्रोत देखा जाये तो वह नासिका है। अर्थात् नासिका द्वारा मनुष्य प्राण लेता है जो कि १० भागों में विभक्त हो जाता है। इन प्राणों पर विचार करने की वह बहुत ही स्थूलदृष्टि है। इसी दृष्टि से हम मुख में होने वाले प्राण पर भी विचार करते हैं। जिस प्रकार नासिका द्वारा प्राण वायु बाहिर निकल जाती है उसी प्रकार मुख से भी वह बाहिर निकलती हैं। परन्तु मुख से उस प्राण वायु के बाहिर निकलने का तरीका और ही है और वह यह है कि वह शब्द व ध्वनि द्वारा बाहिर निकलती है। मुख द्वारा जो शब्द व ध्वनि हम करते है वह मुखस्थ अवयवों के साथ प्राण-वायु के टकराने से ही होती है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि शब्द व ध्वनि वाला मुखस्थ प्राण अयास्य है। अतः हम कुछ विस्तार से यह देखते हैं कि यह आस्य सामान्य मुख है या आस्य से यहां कोई और ही मुख अभिप्रेत है।

इन्द्रियों का देवों के प्रति उद्‌गान

प्रजापति[1] के दो प्रकार के पुत्र थे। देव और असुर। इनमें देव शक्ति व संख्या में स्वल्प थे और असुर अधिक एक समय की बात है कि इन लोकों को अपने अधीन करने के लिये इन देवासुरों में परस्पर संघर्ष छिड़ गया। देवताओं ने कहा, चलो? हम यज्ञ में उद्‌गीथ (उत्कृष्टगान=ओंकार) के द्वारा असुरों का अतिक्रमण करें।

वाणी

सब से पूर्व देवताओं ने वाणी से कहा कि तुम हमारे लिये उद्‌गान करो। अर्थात् ऐसा उत्तम गाना गाओ व उत्तम भाषण करो जिससे कि हम वृद्धि को प्राप्त हों। वाणी ने 'तथास्तु' कह कर उनके लिये गाना शुरु किया। वाणी के उत्कृष्ट गान द्वारा जो भोग की उत्पत्ति (शक्ति व आनन्दादि की प्राप्ति) हुई वह देवों को प्राप्त हुई, और जो शुभ भाषण रूप पवित्रता थी वह वाणी के अपने हिस्से में आई। असुरों को जब यह पता चला कि इस वाणी रूप उद्‌गाता

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्—१।३।१-७

द्वारा ये देव हमें अतिक्रमण करना चाहते हैं तो उन्होंने तत्काल दौड कर वाणी को पाप से बींध दिया । पाप क्या है – वाणी का अप्रतिरूप (निषिद्ध व असगत) भाषण करना ।

नासिका

इस प्रकार वाणी के असुरो द्वारा आक्रान्त किये जाने पर उन्होंने नासिका से कहा 'तुम हमारे लिये उद्गान करो ।' नासिका ने भी 'तथास्तु' कह कर देवों के लिये उद्गान शुरु किया । इस प्रकार नासिका प्राण द्वारा जो भोग की उत्पत्ति (शक्ति, रोग-निवारण व प्रीणन आदि) हुई वह देवों के हिस्से में गई और वह नासिका स्वय कल्याणकारी गन्धों के सूघने का यन्त्र बनी । असुरों को जब यह पता चला कि इस नासिका द्वारा देव हमारा अतिक्रमण करना चाहते हैं तो उन्होंने इसे भी पाप से विद्ध कर दिया । यह जो अननुरूप अर्थात् दुर्गन्ध आदि निषिद्ध गन्धों को सूघती है यही वह पाप है ।

चक्षु

इसके बाद देव चक्षु के पास गये और प्रार्थना की कि तुम हमारे लिये उद्गान करो जिससे कि

हम वृद्धि को प्राप्त हों। चक्षु ने भी 'तथास्तु' कह कर उनके लिये गाना शुरू किया। उसी प्रकार चक्षु में जो भोग हैं वह देवों को मिला और शुभ दर्शन के यन्त्र होने का सौभाग्य चक्षु को प्राप्त हुआ। परन्तु असुरो ने इसे भी पाप से विद्ध कर दिया। इसी कारण मनुष्य सिनेमा आदि के गन्दे, अश्लील चित्रो को देखने में भी लजाते नहीं। यह निकृष्ट व अश्लील दर्शन ही चक्षु का पाप है।

श्रोत्र

अब देव श्रोत्र के पास गये और उद्गान करने के लिये प्रार्थना की। तब श्रोत्र ने 'तथास्तु' कह कर देवो के लिये उद्गान शुरु किया। दिव्य-श्रवण, व शुभ-श्रवण से जो भोग पैदा हुआ वह देवों को मिला। और कल्याणकारी शब्दों को सुनने का एक यन्त्र श्रोत्र बना। परन्तु असुरों ने इस श्रोत्र को भी पाप से विद्ध कर दिया। इस लिये मनुष्य गालीगलौच, अश्लील व भद्दे गानों को भी सुनते ही हैं। इस प्रकार जो श्रवणीय नहीं हैं वही श्रोत्र के लिये पाप है।

इस प्रकार उपर्युक्त इन्द्रियां असुरों से अभिभूत हो गई। देवों ने सोचा कि अब अपनी वृद्धि के लिये किनके पास जायें? खूब सोच समझ कर वे देव अब मन के पास पहुंचे और उससे उद्गान के लिये प्रार्थना की। मन ने भी देवों की आज्ञा शिरोधार्य कर उद्गान शुरू किया। इस प्रकार मानसिक भोग देवों को प्राप्त हुआ और मन स्वयं शुभ संकल्प का यन्त्र बना। परन्तु असुरों ने मन को भी आ दबोचा। इसलिये मन संकल्प तो करता ही है पर विकल्प भी करता है। यह विकल्प ही मन का पाप है।

आसन्य प्राण—अयास्य

अन्त में देव आसन्य प्राण अर्थात् अयास्य के पास पहुंचे और उस आसन्य प्राण से उद्गान करने की प्रार्थना की। इस आसन्य प्राण ने भी 'तथास्तु' कह कर देवों के लिये उद्गान शुरु किया। असुरों को जब यह पता चला कि देव इस उद्गाता द्वारा हमारा अतिक्रमण करना चाहते हैं तो उन्होंने इस आसन्य प्राण को भी पाप से बींधना चाहा। परन्तु हुआ यह कि ये असुर ऐसे विध्वस्त व विनष्ट हुए जैसे कि पत्थर

से टकरा कर मिट्टी का ढेला चूरचूर हो जाता है। अन्त में देव आसन्य प्राण अर्थात् अयास्य के बल से विजयी हुए और असुर पराभूत हो गये। जो इस रहस्य को जानता है, वह आत्मरूप से स्थित होता है और उसके शत्रु पराभूत हो जाते हैं।

कथानक का भाव

इस उपर्युक्त कथानक में चार पांच बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो देव और असुर कौन हैं? दूसरे देवों का असुरों को अतिक्रमण करने व पराभूत करने का क्या भाव है, तीसरे इन्द्रियां व मन द्वारा देवों के लिये किये गये उद्‌गान का क्या तात्पर्य है? चौथे इन्द्रियों का उद्‌गान के द्वारा देवों तथा अपने लिये भोगों को उत्पन्न करने का क्या भाव है? और पांचवा आसन्य प्राण अर्थात् अयास्य क्या है? इस लघु निबन्ध में हम उपरिनिर्दिष्ट चार बातों को सकेतमात्र दिखा कर पाचवे अयास्य पर ही विस्तार से विचार करेंगे।

सब से प्रथम ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह कथानक शरीर से सम्बन्ध रखता है

क्योंकि इसमें मन, प्राण, व इन्द्रियों आदि का वर्णन है। इसलिये देव और असुर भी आन्तरिक शक्तियां ही हैं। देव दिव्यभाव और असुर आसुरी भाव कहे जा सकते हैं। ये दोनों शरीर पर अपना अपना आधिपत्य रखना चाहते हैं। देव विचार मनुष्य को अन्तः प्रेरणा देते हैं कि इन्द्रियों का श्रेष्ठ बातों के ग्रहण करने में उपयोग करो तो असुर इसके विपरीत बुरी बातों की ओर मनुष्य को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार मनुष्य के अन्दर सदा देवासुर सग्राम मचा रहता है। यदि मनुष्य देव विचारो के अनुकूल इन्द्रियों का उपयोग अच्छी बातों के ग्रहण करने मे करता है तो दिव्य-भाव वृद्धि को प्राप्त होते हैं और आसुरी भावों का विनाश होता है। इसलिये दैवी विचारों का शरीर पर आधिपत्य बनाये रखने के लिये हमें दिव्यविचारों को प्रबल-शक्ति वाला बनाना चाहिये। प्रबल-शक्ति होकर ये देव शरीर के प्रत्येक अंग पर शनैः शनैः अपना आधिपत्य जमाते जाते हैं, असुरों का विनाश करते जाते हैं। यही देवों का असुरों को अतिक्रमण करने का भाव है।

उद्गीथ

असुरों को अतिक्रमण करने के लिये देवों ने उद्गीथ का सहारा लिया। उद्गीथ एक पारिभाषिक शब्द है। यह प्रणव व ओंकार के लिये आता है। प्रणव व ओंकार तो इसका शाब्दिक रूप है। परन्तु इस ओंकार का सृष्टि में उद्गीथात्मक रूप यह है कि सृष्टि के घटकों द्वारा उत्कृष्टता का गान होना, उत्कृष्टता का प्रकट होना इत्यादि। इस दृष्टि से इन्द्रियों का सदुपयोग देवों के लिये उद्गान है। 'उदगान' शब्द से भी (उद्+गान) उत्कृष्ट गान का भाव टपकता है। एक मनुष्य वाणी से सत्य बोलने का प्रण करता है परन्तु यदि वह पूर्णपरिपक्व नहीं है तो आसुरी प्रलोभन के आने पर वह पतित हो जायगा और सत्य को छोड़ बैठेगा। असत्य बोलने पर आसुरी भाव प्रबल हो जाते हैं। और देवभाव क्षीण हो जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य यह निश्चय करता है कि मैं आंखों का दुरुपयोग नहीं करूंगा। परन्तु वह अपने इस निश्चय पर दृढ़ नहीं रहता। जब लुभावने तथा बाहिर से सुन्दर दीखने वाले दृश्य सामने आते हैं तो मनुष्य गिर ही जाता है। इस प्रकार असुर

आंखों को भी अपने प्रभाव में कर लेते हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है।

भोग निर्माण

अब आगे विचारणीय यह है कि इन्द्रियां अपने तथा देवों के लिये किस प्रकार के भोगों का निर्माण करती हैं। इस बात को समझने के लिये उदाहरण के तौर पर हम वाणी को लेते हैं। वाणी जब सत्य बोलती है तो उसके दो प्रभाव होते हैं। एक तो स्थानीय अर्थात् वाक् इन्द्रिय पर, और दूसरे आन्तरिक दिव्य विचार पर। स्थानीय प्रभाव तो यह है कि वाणी सत्य, शिव, सुन्दर बोलने वाली बन जाती है उसमें ओजस्विता आ जाती है, जिस से उस वाणी से उच्चरित शब्द प्रभाव डालने वाला होता है। दूसरा आन्तरिक प्रभाव यह है कि दिव्य विचार वृद्धि को पाते हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिया भी उद्गान के द्वारा देवों की वृद्धि करती हैं और साथ में अपनी शक्ति को भी बढाती हैं। परन्तु असुर इन इन्द्रियों को पापों से विद्ध कर देते हैं। इस लिये इन्द्रियां कभी देवों के प्रभाव में आकर उनके

लिये उद्गान करती हैं, और कभी असुरों के वशीभूत हो पापाचरण कर बैठती हैं। इसी प्रकार मन को भी असुर अभिभूत कर लेते हैं जिससे कि वह संकल्प के साथ विकल्प भी कर बैठता है। जो बातें मन में नहीं आनी चाहिये वे भी मन में आ विराजती हैं। इस लिये कथानक में मन तक असुरों का प्रभाव-क्षेत्र बताया है। आगे आसन्य प्राण है जहां कि असुर व आसुरी भाव पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाते हैं।

क्या अयास्य मुखस्थ प्राण हैं ?

प्रसंगवश अब विवेचनीय विषय यह है कि क्या अयास्य प्राण मुखस्थ प्राण है ? इस सम्बन्ध में हम पक्ष-विपक्ष की युक्तियों व प्रमाणों को यहां दिखाने का प्रयत्न करते हैं।

अन्न-भक्षण का कार्य

सर्व प्रथम इस प्राण की अयास्य, आसन्य, मुख्य आदि सञ्ज्ञाएं ही इस बात को सिद्ध व परिपुष्ट करती प्रतीत होती हैं कि यह प्राण अन्न-भक्षण करने वाले सामान्य मुख का ही प्राण है।

शास्त्र के कथनानुसार इस अयास्य प्राण के दो प्रकार के कार्य हैं। उनमें एक कार्य अन्न-भक्षण व ग्रास-निगरण का और दूसरा ध्वनि व शब्दोच्चारण का । ये दोनों प्रकार के कार्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि यह अयास्य प्राण मुखस्थ प्राण है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषत् में कहा है--

तेन यदश्नाति यत्पिबति
तेनेतरान् प्राणानवति ।
एतमु एवान्ततोऽवित्वोत्क्रामति
व्याददात्येवान्तत इति ॥

छा उ १. २. ६।

अर्थात् उस मुख्य प्राण से जो खाता पीता है, उससे अन्य प्राणों की रक्षा होती है। परन्तु अन्त-काल अर्थात् मृत्यु समय में अन्य प्राण-समुदाय इस प्रमुख प्राण को उपलब्ध न करने से इस शरीर से उत्क्रमण कर जाता है और मुख खुला का खुला ही रह जाता है। मुख का खुला होना इस बात का परिचायक है कि प्राण-समुदाय की अन्नभक्षण

की इच्छा है, जिसकी पूर्ति यह प्रमुख-प्राण किया करता है। पर मृत्यु समय मुख्य प्राण के अभाव में जब उन्हे अन्न नहीं मिलता तो वह पराश्रित-प्राण-समुदाय इस मुख मार्ग से उत्क्रमण कर जाता है अर्थात् शरीर से बाहर निकल जाता है। इस प्रकार यह उल्लिखित कार्य इस प्राण का अन्न-भक्षण का कार्य हुआ। इससे यह प्रतीत होता है कि अयास्य-प्राण मुखस्थ प्राण है।

ध्वनि व शब्दोच्चारण का कार्य

इस अयास्य-प्राण का दूसरा कार्य ध्वनि व शब्दोच्चारण का है। इसी कारण इसे उद्गान करने वाला उद्गाता तथा वाक् का अधिपति बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति भी माना है। इससे यह सिद्ध है कि शब्दोच्चारण रूपी कार्य भी इस अयास्य नामक प्राण का अपना कार्य है। इसकी पुष्टि में उपनिषद् की निम्न आख्यायिका दिखाई जा सकती है।

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्ष-यन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयाद् यदि-

तोऽयास्य आंगिरसोऽन्येनोदगायदिति । वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ।

बृ. उ. १ ३. २४ ।

चेकितानेय ब्रह्मदत्त ने यज्ञ में सोमपान करते हुये कहा कि अयास्य आंगिरस ने वाणी से युक्त प्राण के अतिरिक्त यदि किसी अन्य देवता द्वारा उद्गान किया हो तो यह सोम राजा मेरा सिर गिरा दे। अतः उसने प्राण-सश्लिष्ट वाक् के द्वारा उद्गान किया था यही निश्चय से समझना चाहिये।

इसी भाँति शकराचार्य मुखस्थ प्राण को अयास्य मानते हैं। यथा--

अथानन्तरं य एवाय प्रसिद्धो मुखे भवो मुख्यः प्राणः।

छा. उ. १. २. ७ ।

आसन्यमास्ये भवमासन्यं मुखान्त बिलस्थं प्राणमूचुः । बृ. उ. १. ३. ७ ।

शंकराचार्य की उपर्युक्त व्याख्या को मुख्य प्राण (Vital force in the mouth) में घटाते हैं। परन्तु यहां भी समस्या मुख (Mouth)

की है। अर्थात् मुख से किस मुख का ग्रहण करना है।

इस प्रकार शास्त्रों में अयास्य प्राण के विविध कार्य निर्दिष्ट हुए, जिनका सम्बन्ध मुख से है। इससे तत्काल यही भावना उद्बुद्ध होती है कि अयास्य प्राण मुखस्थ प्राण है।

अयास्य प्राण सामान्य मुख का प्राण नहीं है

परन्तु जब हम सम्पूर्ण औपनिषदिक वचनों व वेदमन्त्रों का गम्भीर व सूक्ष्म विलोडन करते हैं तो अयास्य सम्बन्धी उल्लिखित परिणाम में कुछ-कुछ संशयोद्भावना होने लगती है। संशयोद्भावना के हेतु निम्न हैं—

उपर्युक्त औपनिषदिक प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि यह अयास्य प्राण मुखस्थ प्राण है, जो कि वायुरूप है और पाप से अलिप्त है। इसी कारण आसुरी शक्ति से अभिभूत नही होता। परन्तु इसमें शङ्का यह है कि जैसे नासिक्य प्राण वायुरूप है, वैसे ही मुखस्थ-प्राण भी वायुरूप है। दोनों एक समान वाय्वात्मा है। फिर इनमें एक को पाप-संश्लिष्ट माना जाये और दूसरे को नहीं,

यह समझ नहीं आता । जिस प्रकार नासिक्य-प्राण दुर्गन्धि ग्रहण करने से पाप-लिप्त माना जाता है, उसी प्रकार मुखस्थ-प्राण अभक्ष्यभक्षण व असत्य-भाषण के कारण आसुरी-शक्ति से अभिभूत क्यों नही माना जा सकता ? अतः इस मुखस्थ प्राण को भी अभक्ष्यभक्षण व असत्यभाषणादि दोषों से दूषित मानना चाहिये । इस पर यदि यह कहा जाये कि नासिक्य-प्राण निर्बल है और मुखस्थ-प्राण सबल है, इस लिये निर्बल नासिक्य प्राण तो दुर्गन्धादि दोष ग्रहण से दूषित हो जाता है, पर मुखस्थ-प्राण नही । इस सम्बन्ध में हमारा कथन यह है कि यह बलाबल का आरोपण व निर्णय भी ठीक नही है । दूसरे जब असत्य भाषण से वाक् इन्द्रिय दूषित हो सकती है, तब वाक् संयुक्त-प्राण क्यों नही दूषित हो सकता ? पुनश्च प्राण के दूषित होने के लक्षण भी हमें मिलते हैं और वह यह कि वाणी के उस प्राण में वह अदम्यशक्ति व ओजस्विता नही रहती जो कि सत्यभाषण वाले प्राण में होती है । इससे यह ध्वनित होता है कि मुखस्थ-प्राण भी असत्यभाषण व अभक्ष्य-भक्षण से दूषित हो जाता है । इसलिये यह कहा

जा सकता है कि सामान्य मुख में रहने वाला प्राण अयास्य नहीं है। हां, यह निश्चित है कि आस्य (मुख) में रहता है और अन्न का भक्षण भी करता है। पर वह सामान्य मुख और सामान्य अन्न नही है। अतः विचारणीय प्रश्न यह है कि यहां किस अन्न व किस मुख का ग्रहण करना चाहिये ? इस सम्बन्ध में उपनिषदों में ही इसका स्पष्टीकरण किया गया है। बृ. उ. १ ५. १. १–२ में सप्तेन्द्रियो वाले सप्तान्न का वर्णन आता है और वहां मुख प्रतीकमात्र माना गया है। वहां आता है कि-- **सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकम्।** बृ. उ. १.५ १ १-२। बृ उ. के इसी प्रकरण को दूसरे शब्दों में जैमिनोयोपनिषद् ब्राह्मण २. ४. १. ख. में **वाचा भुञ्जते, मनसा भुञ्जते, चक्षुषा भुञ्जते, श्रोत्रेण भुञ्जते,** आदि शब्दों द्वारा प्रतिपादित किया है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अयास्य के प्रकरण में भी सामान्य मुख का ग्रहण नही करना है। इसके अतिरिक्त अयास्य प्राण के कई कार्य बताये हैं; जिनसे यह ध्वनित होता है कि सामान्य मुख में स्थित प्राण अयास्य नही हैं। वे कार्य इस प्रकार हैं—

(१) यह अयास्य प्राण चक्षु आदि इन्द्रियों को दिशाओं के अन्त में पहुचाता है। (**दिशामन्त-स्तद् गमयाञ्चकार**)। प्रश्न यह है कि क्या मुखस्थ प्राण में ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह इन इन्द्रियों को दिशाओं के अन्त में पहुचा सके। बृ. उ. १. ३. १०।

(२) दूसरा कार्य इस अयास्य प्राण का यह है कि यह चक्षु आदि इन्द्रियों के पापों को धोता है। यहां भी वही प्रश्न है कि क्या मुखस्थ प्राण में ऐसी सामर्थ्य है कि वह अन्य इन्द्रियों के पापों को धो सके या विनष्ट कर सके। हमें तो इस मुखस्थ प्राण में ऐसी कोई शक्ति दिखाई नही देती।

(३) तीसरा कार्य इस अयास्य प्राण का यह है कि वह इन इन्द्रियों को अमर बना देता है। उपनिषद् के आधार पर इन्हें अमर बनाने का भाव यह है कि वे पुनः पाप में लिप्त नही होती। क्योंकि शास्त्रों में पाप को ही इन की मृत्यु कहा गया है।

(४) चौथा कार्य यह है कि इन इन्द्रियों में यह अयास्य प्राण दिव्य-शक्ति पैदा कर देता है।

अर्थात् इन इन्द्रियों में वह दिव्य-शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो कि इनके आदि स्रोत महान् शक्तियों में होती है। वाक् अग्नि बन जाती है। आंख सूर्य बन जाती है, श्रोत्र दिशाएं बन जाते हैं, नासिक्य-प्राण सर्वव्यापी वायु बन जाता है और मन चन्द्रमा बन जाता है। यह सब अयास्य प्राण का प्रभाव है। तो क्या अयास्य प्राण मुखस्थ-प्राण हो सकता है ? इन युक्तियों व प्रमाणों से तो यही सिद्ध होता है कि अयास्य मुखस्थ-प्राण कभी भी नहीं हो सकता। हमें तो यही प्रतीत होता है कि अन्न-भक्षण व आस्य (मुख) यहां प्रतीकमात्र हैं। ये सामान्य मुख व अन्न-भक्षण के वाचक नहीं हैं। इस प्रकार हमने अयास्य प्राण, मुखस्थ प्राण है कि नहीं ? इस सम्बन्ध में पूर्वापर पक्ष देखे। इस तुलनात्मक विवेचन से अभी हमें पूर्ण रूप से किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंच जाना चाहिये। यदि यह सिद्ध भी हो जाता है कि अयास्य मुखस्थ प्राण नहीं है, तो भी हम यह कह सकते हैं कि इसका मुख से सम्बन्ध अवश्य है। और वह सम्बन्ध कितना है, और कैसा है, यह हम आगे देखेंगे। अयास्य प्राण मुख में रहता है अथवा शरीर के

अन्य किसी स्थान में रहता है इत्यादि बातों के निर्णय के लिये पहले हमें यह देख लेना चाहिये कि उसका स्वरूप क्या है ? क्योंकि स्वरूप पता चलने पर यह सुगमतया निर्णय किया जा सकता है कि अमुक प्रकार का प्राण तत्त्व शरीर में किस स्थान पर रह सकता है ? इसके लिये हम सबसे पूर्व अयास्य के आंगिरस रूप को देखते हैं।

अयास्य आङ्गिरस है—

महर्षि याज्ञवल्क्य बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखते हैं—

'सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः ? प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्त-स्माद् यस्मात् कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः।

बृ० उ० १।३।१६

यह अयास्य आङ्गिरस है। आङ्गिरस अङ्ग के रस को कहते हैं। और इसे ही अङ्गों का प्राण भी कहा जाता है। इस कारण जिस किसी अङ्ग से यह रस अर्थात् प्राण उत्क्रमण कर जाता है,

वही अङ्ग शुष्क हो जाता है। अत एव अयास्य अंगों का रस भी है, और प्राण भी है।

इस उल्लिखित उद्धरण में कई बातें सूक्ष्म विवेचन की अपेक्षा रखती हैं। इन में सब से पहली बात जिसका कि अयास्य के साथ घनिष्टतम व निकटतम सम्बन्ध है, वह है अयास्य को आङ्गिरस विशेषण देना। शास्त्रों में आङ्गिरस कई माने गये हैं, जिन में एक अयास्य भी है। इस अयास्य के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि आंगिरस व अंगिरा पर भी कुछ दृष्टिपात कर लिया जावे।

उद्धृत उपनिषद् वचन में आंगिरस की व्युत्पत्ति अङ्गानां रसः दी है। अर्थात् आंगिरस अङ्गों के रसों को कहते हैं। रस शब्द वैदिक साहित्य में सार अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अन्यत्र कई स्थलों पर धधकते अङ्गारों को आङ्गिरस कहा है। (ऐ० ब्रा० ३। ३४, श० प० ६। ५। १। ८) एवं कई स्थलों पर अंगिरा ऋषि को भी ये सन्तति कहे गये हैं। (ऋ० १०। ६२। ५) अर्थात् जितने भी आंगिरस हैं, वे सब अंगिरा से उत्पन्न होते हैं। अत एव आंगिरस अयास्य के स्वरूप-निर्धारण

में अंगिरा पर भी विचार होना आवश्यक हो जाता है।

दूसरी बात यह विचारणीय है कि अङ्गों के रस से उपनिषद् का क्या भाव है ? क्योंकि अंगों में अनेकों रस होते हैं, उनमें अयास्य कौनसा रस है ?

तीसरी बात यह कि इस अंगों के रस को प्राण कहा गया है, इस से किस प्रकार का प्राण अभीष्ट है ? क्योंकि प्राण भी बहुमुखी व व्यापक शब्द है।

इन उद्धृत समस्याओं पर विशद विवेचन तो यहां न हो सकेगा। केवल अति संक्षिप्त विचार सरणी हम यहां प्रस्तुत करते हैं।

अङ्गिरा–अग्नि

जितने भी आंगिरस हैं वे सब अंगिरा से उत्पन्न हुए हैं, और अंगिरा वेद में अग्नि को कहा गया है।

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा। ऋ० १।३१।१

हे अग्नि ! तू पहिला अंगिरा ऋषि है। देव है। देवों का तू कल्याणकारी सखा है।

इस मन्त्रखण्ड में यह स्पष्ट निर्देश कर दिया है कि अगिरा अग्नि है।

ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे।

ऋ० १०। ६२। ५

वे आंगिरस अङ्गिरा के पुत्र हैं और इस अङ्गिरा नामक अग्नि से पैदा हुए हैं।

इस उद्धृत मन्त्रांश में भी यह स्पष्ट निर्दिष्ट हुआ है कि सब आंगिरस अग्नि स्वरूप अङ्गिरा से पैदा हुए हैं। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि अयास्य भी आंगिरस होने से अङ्गिरा नामक अग्नि से पैदा हुआ है तो अब प्रश्न यह है कि क्या अयास्य भी अग्नि है? क्या अग्नि की ही विकृति बन शरीर का रस व प्राण बना है? अथवा अग्नि से उत्पन्न होने वाला कोई और तत्त्व है। आयुर्वेदाभिमत सिद्धान्त यह है कि शरीर के सम्पूर्ण-घटक वात, पित्त (अग्नि), कफ (सोम) इन त्रिदोषों में समाविष्ट किये जाते हैं। इसलिये इस दृष्टि से भी यह विचारणीय है कि अङ्गों का रस यह अयास्य इन तीनों में किस वर्ग में समाविष्ट किया जा सकता है? शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर एक वाक्य में हम यह कह सकते हैं कि अयास्य

इन तीनों ही वर्गों में सुगमतया समाविष्ट हो सकता है।

वायुरूप अयास्य—

उपनिषदों में अयास्य को जो बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति माना है, वह वाक् का अधिपति होने से ही माना है। वाक् का अधिपति प्राण है जो कि वायुरूप है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर उपनिषद् में एक स्थल आता है जिसको शंकराचार्य ने अयास्य सम्बन्धी माना है, वह इस प्रकार है—

'प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद् योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता बृ०उ०३।१।५। अर्थात् प्राण ही इन्दु कहा गया है। 'इन्दु' सोम को कहते हैं और यज्ञ का उद्गाता है और यह उद्गाता प्राण वायु रूप है। इसी प्रकार श्री शंकराचार्य ने अयास्य प्रकरण में नासिक्य प्राण और अयास्य प्राण की शक्तिमत्ता की तुलना करते हुए अयास्य को 'वाग्वात्मा' माना है। इस प्रकार अयास्य 'सबन्धी प्रकरणों से यही ध्वनित होता है कि अयास्य प्राण वायु रूप है।

अग्निरूप-अयास्य—

अयास्य प्राण अग्निरूप भी है क्योंकि यह

अगिरा नामक अग्नि की सन्तति है। इसपर यदि यह कहा जाये कि यह आवश्यक नही है कि अग्नि की उपज अग्नि ही हो । यथा उदराग्नि द्वारा आहारद्रव्यों से रसोत्पत्ति अग्नि से उत्पन्न तो है पर वह स्वय अग्नि नही है। इसी प्रकार अगिरा नामक अग्नि से उत्पन्न होने वाले आंगिरस आवश्यक नही कि अग्नि रूप ही हों। ये आहारद्रव्यों से उत्पन्न शरीर के अनेकविध रस हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में हम यहां और अधिक विस्तार न करते हुये कुछ शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत करते हैं जिनसे यह सिद्ध होता कि अगिरस अग्नि रूप भी है।

येऽगारा आसंस्तेऽगिरसोऽभवन्। ऐ० ब्रा०।३।३४

अर्थात् जो अंगारे थे वे ही अगिरस हुए।

अङ्गारेभ्योऽगिरसः। श० प० ४।५।१।८

अंगारों से ही अंगिरस हुए।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि आङ्गिरस अङ्गारे है, और अंगारे अग्नि रूप है । इसलिये अयास्य भी अग्नि की कोई विकृति होसकता है और अग्नि वर्ग में गिना जा सकता है।

सोमरूप अयास्य—

अयास्य सोमरूप व रसरूप भी है । अतः

आयुर्वेद की दृष्टि से कफवर्ग में परिगणित हो सकता है। ऋ० ६। ४४। १ में अयास्य को 'उन्दी क्लेदने' धातु से निष्पन्न माना है। क्लेदन का भाव है, आर्द्र करना, गीला करना। अतः अयास्य शारीरिक दृष्टि से कफ वर्ग में भी आसकता है। इसप्रकार अयास्य वात, पित्त, कफ इन तीनों के धर्मों से युक्त प्राण का नाम है।

अब हम शारीरिक दृष्टि से अङ्गिरा व अयास्य के विशिष्ट रूपों पर विचार करते हैं।

अङ्गिरा (प्रकृति में)

अंगिरा केवल अग्नि ही नहीं हैं, यह साथ में वायु भी है। बाह्य प्रकृति में ओषजन (oxygen) ऐसा तत्व है जो कि इन दोनों धर्मो से युक्त है। यह ओषजन वायु भी है और ज्वलनशीलता के कारण अग्नि भी है। परन्तु यह विशेषरूप से ध्यान देने की बात हैं कि ओषजन अपने स्वरूप में रहता हुआ अंगिरा नाम से नहीं कहा जा सकता। अंगिरा नाम इसका उस समय होता है जब कि यह ओषजन किसी प्राकृतिक द्रव्य के साथ सम्पर्क करके उसे दग्ध करता है। जिसका स्वरूप-**अंगारे-**

थर्वांगिरसः । नि० ३।२७।१, येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् ऐ०ब्रा० ३।३४, अङ्गारेभ्यो ऽङ्गिरसः । श० प० ४।५।१।८ इन उदधृत प्रमाणों में स्पष्ट हुआ है। अग्नि-दग्ध ये अग्नि के शोले ही वैदिक-परिभाषा में अंगिरा हैं। परन्तु यह स्मरणीय है कि बाह्य प्रकृति में ही ये अगिरा हैं न कि शरीर में। शरीर की दृष्टि से इन अङ्गारों का कोई मूल्य नहीं है। अतः विचारणीय यह है कि शरीर में अङ्गिरा कौन है? इसके समाधान में हम यह कह सकते हैं कि जब आहारद्रव्य ओषजन के सपर्क से दहन क्रिया द्वारा शरीर का हिस्सा बनते हैं, उस समय ओषजन तथा आहार द्रव्य अर्थात् इनके मिलित रूप का नाम वेद की परिभाषा में अगिरा है। यह हमें ध्यान में रखना चाहिये कि ओषजन और आहार के मिश्रण से प्रथम प्रयोजन शक्त्युत्पादन है। शरीर के जितने भी संस्थान हैं, उन सबकी क्रियाएँ, व उनमें शक्ति का उद्भावन ओषजन व आहार में दहन क्रिया द्वारा जो रस-निर्माण होता है, वह अङ्गों का रस (आंगिरस) तो है ही, साथ में प्राण भी वही है। अतः हम यह कहसकते हैं कि वात, पित्त तथा कफ ये तीनों मिले हुए जब

किसी शरीर संस्थान के कर्म का निर्वाह करते हैं तो उस समय ये अगिरा व आंगिरस कहलाते हैं। शरीर के अनेकविध संस्थानों के कारण अनेक रूपों वाले ये भिन्न-भिन्न आंगिरस हैं। इनके मिलित रूप में जहाँ वात की प्रधानता दिखानी हो, या वात प्रमुख हो तो यह अगिरा वायु, व प्राण वायु नाम से कहा जाता है। और जहाँ अग्निधर्म प्रमुख हो वहाँ इसे अग्नि कह दिया जाता है और जहाँ अगिरा से सोम का धर्म-रस व आर्द्रता आदि अभिप्रेत हो, तो वहाँ तद्धर्म व तद्गुणविशिष्ट पदों द्वारा उसे विभूषित किया जाता है। स्वामी दयानन्द ने भी अपने भाष्य में अगिरा के ये तीनों ही रूप दिखाये हैं।

अङ्गिरस्वत्—अग्निवत्, प्राणवत्, समस्तौषधिरसवद्वा। यजु० ११।६५।

प्राचीन शास्त्रों में भी अगिरा के ये ही तीनों प्रमुखरूप हमें दृष्टिगोचर होते हैं।

अङ्गिरा वा अग्निः। श० प० ६।५।१।४

प्राणो वा अङ्गिराः। श० प० ६।१।२।२८

ता या अमूः रेतः समुद्रं वृत्वा सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत् । गो० पू० १।७

इस प्रकार हमने अगिरा व अगिरस का शरीर की दृष्टि से सक्षिप्त विवेचन किया । इस से पूर्व कि अयास्य पर हम विशेष विचार प्रस्तुत करे, यह निर्देश कर देना उचित है कि शरीर की दृष्टि से आंगिरसों का यह अतिस्थूल स्वरूप हमने यहां दिखाया है । इन आंगिरसों का मानसिक व आत्मिक दृष्टि से सूक्ष्म रूप भी है । जैसा कि हमने अपनी 'आत्मसमर्पण' नामक पुस्तक में इन्द्र के स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतर रूपों को दिखाते हुए यह लिखा था कि स्थूलता पर ही सूक्ष्मता आविर्भूत होती है । सूक्ष्म का स्थूल आश्रय है, घर है । इसी कारण स्थूल, सूक्ष्म आदि ये भेद न दिखाते हुए ही तत्तत् नाम से कह दिये जाते हैं । इसी प्रकार यहां भी आंगिरस अगों के स्थूल रसों के वाचक होते हुए भी मानसिक व आत्मिक अग्नियों आदि के भी वाचक हैं ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के पूर्व उद्धरण में अयास्य को आंगिरस कहा गया था । आंगिरस कहने का

क्या भाव हो सकता है, यह हमने देखा। अयास्य अगों का रस है, प्राण है यह हमें पता चला। अब हम अयास्य के विशिष्ट रूप का भी पर्यालोचन करते हैं।

पञ्चवृत्तिमुख्य प्राण (अयास्य)

सायणाचार्य ने ऋ० १।६२।७ मन्त्र के भाष्य में इसे 'पञ्चवृत्तिमुख्यः प्राण.' ऐसा लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि यह अयास्य पांचों ज्ञानेन्द्रियों में रमने वाला प्राण है। पर रहता है इन प्राणों के मुख व केन्द्र में। अतः इस से भी यह ध्वनित होता है कि अयास्य में 'आस्य' शब्द सामान्य मुख का वाचक नहीं है। यह पांचों वृत्तियों का मुख है। और प्राण का जो सम्बन्ध बताया है, वहाँ वाक् सामान्यवाक् नहीं है (बृ० उ० १।३।२४)। वह आन्तरिक वाक् है। यदि हम एक वाक्य में अयास्य प्राण और उस आन्तरिक वाक् का निर्देश करना चाहें तो यह कह सकते हैं कि मस्तिष्क में विद्यमान द्रवकूपों अर्थात् सोम-रस परिपूर्ण चार सरोवरों में तैरते हुए ब्रह्मरूपी हंस की यह वाक् है। (वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना) और यह वाक्

जब इन सप्तर्षियों के पास पहुँचायी जाती है जो कि इन सरोवरों के चारों ओर आश्रम बनाकर रह रहे हैं—तो वह अयास्य रूपी वाहन द्वारा ही पहुँचती है। जिस मुख से यह दिव्य वाक् उच्चरित होती है उसी मुख में अयास्य प्राण भी रहता है। यह इसका केन्द्रीय निवास है यहीं से यह अन्यत्र शरीर में गति करता है। ये सप्तर्षि सिर के केन्द्र (Brain centres) हैं इन केन्द्रों से वह वाक् अयास्य पर आरूढ़ हो इन्द्रियगोलकों व शरीर के अन्तिम छोर (End organs) पर भी पहुँचती है। और वहां जो अनुभूति होती है उसे यह अयास्य प्राण मस्तिष्क में ला पहुँचाता है। आधुनिक क्रिया शारीरविदों की परिभाषा में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि ज्ञानवाहक (Sensory nerves) तथा आज्ञावाहक (Motor nerves) नाड़ियों को वहन करने वाला प्राण ही अयास्य है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्राण का जो अयास्य नाम दिया गया है वह उस आस्य अर्थात् मुख के कारण है जिस मुख से ब्रह्म संवलित वाक् सप्तर्षियों को दी जाती है। इन्हीं सप्तर्षियों को शास्त्रों में सप्तहोता सप्तास्य, सप्तरश्मि, आदि

अनेकों नामों से सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार हमने यहां अयास्य के आंङ्गिरस रूप का सक्षिप्त विवेचन किया। वेदमन्त्रों से भी अयास्य के इस स्वरूप की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ दो एक मन्त्र दिखाकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

प्र ण इन्दो महे तन ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि। अभि देवां अयास्यः। ऋ० ९।४४।१

(इन्दो) हे सोम तू (नः) हमारे (महे तने) महान् विस्तार के लिये (अयास्यः) अयास्य प्राण बनकर उर्मित तरग रूप में (बिभ्रत्) ज्ञान व अनुभूति को धारण किये हुए (देवान् अभि) देवों की ओर (अर्षसि) गति करता है।

यह शरीर देवों का निवास स्थान है। इस में ये देव चहुँ ओर विराजमान हैं (देवानां पूरयोध्या)। इन देवों का एक दूसरे के प्रति आदेश, प्रत्यादेश व अनुभूति आदि नस नाड़ियों द्वारा आती जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों तरंग व लहर जारही हो। इस तरंग को वहन करने वाला प्राण ही अयास्य है। अगले मन्त्र में इसी रूप को और विशद किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

मतीजुष्टो धियाहितः सोमो हिन्वे परावति ।
विप्रस्य धारया कविः । **ऋ० ९।४४।२**

(सोमः) यह अयास्य रूप सोम (कविः) क्रान्त कर जाने वाला (विप्रस्य) विप्र की (मतीजुष्टः) मति द्वारा सेवित तथा (धिया हितः) धी अर्थात् विचार रूप से रक्खा हुआ (धारया) धारा रूप में (परावति) दूर से दूर प्रदेश में (हिन्वे) प्रेरित किया जाता है ।

इस मन्त्र के भाव को पूर्णरूप से हृदयङ्गम करने के लिये इसके विशिष्ट पदों पर कुछ विचार करते हैं उनमें एक कवि शब्द है । कवि शब्द का पूर्णार्थ तुकबन्दी व कविता निर्माण में नहीं है । इसका पूर्णार्थ तो क्रान्त करने, परोक्ष तथ्यों के दर्शन आदि में है । सोम के अन्दर यह गुण है कि मनुष्य इसके प्रभाव से परोक्ष सत्यों को भी देख लेता है। परन्तु यह सोम अयास्य रूप होना चाहिये। अर्थात् बुद्धिसवलित दिव्य वाक् को उच्चरित करने वाले दिव्य मुख का सोम होना चाहिये । इसी कारण इस सूक्त का ऋषि स्वयं अयास्य आंगिरस है ।

मन्त्र में जो आता है कि—

'मतीजुष्टो धिया हितः ।'

मति से सेवित और धी से रक्खा हुआ। इसका तात्पर्य हमें यह प्रतीत होता है कि यह अयास्य सोम जब मति के क्षेत्र में पहुँचता है तो वहाँ ज्ञान का उद्‌बोधन होता है 'मति' शब्द 'मनु अवबोधने' से बना है। अवबोधन, उद्‌बोधन, जागरण आदि एक ही भाव के द्योतक शब्द हैं। मति में जब सोम पहुंचता है तब वहां ज्ञान और चेतना का उद्‌बोधन होता है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि के आधार पर तो वहां केवल नस-नाड़ियों का स्पन्दन व प्रकम्पन ही है ? प्रकम्पन व स्पन्दन में अवबोधन व उद्‌बोधन का भाव नहीं आता। अवबोधन में ज्ञान व चेतना का आधिक्य है। प्रश्न यह है कि प्रकम्पन में ज्ञान व चेतना का आविर्भाव कैसे होता है। इस सम्बन्ध में वेद यह कहता है कि यह सोम ही ज्ञान व चेतना का आविर्भाव करने वाला है।

'रयिं कृण्वन्ति चेतनम् ।' ऋ. ९. ३१. १।

अर्थात् ये सोम रयि को चेतनता में परिवर्तित कर देते हैं। चेतनता में परिवर्तित हो यह सोमस्थ रयि जब धी में पहुंचती है अर्थात् ध्यान व चिन्तन

के शिकंजे में कसी जाती है तो यह सोम दूर से भी दूर प्रदेश में पहुंचता है (**सोमो हिन्वे परावति**) क्योंकि चिन्तन के क्षेत्र में अत्यन्त दूर की वस्तुएं भी आती हैं। इस प्रकार हमने अयास्य के आंगिरस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उस पर संक्षिप्त विवेचन किया।

द्विता विवव्रे सनजा सनीडे अयास्यः स्तवमानेभिरर्कैः।
भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद् रोदसी सुदंसाः।
ऋ १।६२।७

(अयास्यः) इस पञ्चवृत्तिमुख्य प्राण ने (स्तवमानेभिः अर्कैः) स्तुति व अर्चना करने वाले अर्कों अर्थात् इन्द्रियों से (सनजा) सनातन काल से उत्पन्न (सनीडे) एक ही आश्रय में रहने वाले (रोदसी) द्यावा पृथिवी अर्थात् शरीर के ऊर्ध्व और अधोभाग को (द्विता विवव्रे) दो प्रकार से वरण किया। और (सुदसाः) उत्तम कर्म करने वाले अयास्य ने उन रोदसी को (मेने) मननीय (परमे व्योमन्) परम व्योम अर्थात् मस्तिष्क में (भगो न) आदित्य के

समान (अधारयत्) धारण किया।

उपर्युक्त मन्त्र को हमने अध्यात्म क्षेत्र में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यह अयास्य पंचवृत्ति प्राण है जिसका निवास मस्तिष्क में है। जिस समय मनुष्य स्तुति व भक्ति मे होता है, उस समय ऐन्द्रियिक कार्य व मानसिक संकल्प विकल्प आदि कुछ नही होते तब यह अवस्था अयास्य की होती है। यह अवस्था बनी रहे इसके लिये यह आवश्यक है कि शरीर को दो भागों में बाट दिया जाये। वह इस प्रकार कि शरीर के अधोभाग से उत्पन्न कामनाओं, वासनाओ को अपान क्रिया द्वारा दूर करता जाये और ऊर्ध्व भाग अर्थात् मस्तिष्क में प्राणन क्रिया द्वारा ध्यान को केन्द्रित करता जाये। रोदसी को द्विधा विभक्त (द्विता विवव्रे) करना यही है। इसकी विशेष व्याख्या व प्रक्रिया जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण के कथानक के स्पष्टीकरण में बतायी जायेगी। इसके अनन्तर इस रोदसी को मस्तिष्क रूपी परमव्योम में धारण करना है। यह तभी संभव

है जब कि शरीर के अधोभाग की कोई कामना व वासना शेष न रही हो। अर्थात् ध्यान में मन व इन्द्रियों का कोई भी कार्य न हो। एक प्रकार से वे सब समाप्त होकर मस्तिष्क में जा केन्द्रित होवें। यह अयास्य प्राण शरीर के संपूर्ण अंगों में अभिव्याप्त चेतना को मस्तिष्क रूपी परमव्योम में ले जाकर वहां एकाग्र कर देता हैं।

एह गमन्नृषयः सोमशिता
अयास्यो अंगिरसो नवग्वाः ।
त एतमूर्वं विभजन्त गोनामथैतद्
वचः पणयो वमन्नित् ।

ऋ. १०।१०८।८

(सोमशिताः ऋषयः) सोम रस से तीक्ष्ण होकर ऋषि बनी हुई इन्द्रिया और (नवग्वाः) रश्मिरूपी नौ गौवों वाला (अंगिरसः अयास्यः) अयास्य नामक अंगिरस प्राण ये सब (इह) इस मस्तिष्क में (आगमन्) आ गये हैं। (ते) उन्होंने (गोनाम्) दिव्य किरणों के (एतत्) इस (ऊर्व) आवरण को (विभजन्त) विभक्त कर दिया है, फाड़ दिया है। (अथ) इसके

अनन्तर (एतत् वचः) यह दिव्य ज्ञान (पणयः) पणियों ने (इत्) निश्चय से (वमन्) उगल दिया है।

इस मन्त्र में कई बातें विचारणीय हैं। इन्द्रियों को ऋषि क्यों कहा गया है ? अयास्य की नौ गौए कौनसी हैं ? इनका सोम से तीक्ष्ण होने का क्या भाव है ? गौओं अर्थात् ज्ञान किरणों पर आये हुए आवरण (ऊर्व) को कैसे भेदन किया जाता है ? और पणि कौन है ? इत्यादि कई गम्भीर व रहस्यमय विषय है, जिन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार होना चाहिये। इन सब विषयों पर यहां विस्तृत विचार तो हो नही सकता। परन्तु मन्त्र का संक्षिप्त भाव इस प्रकार है– पणि आसुरी शक्तियां है जो कि आत्मा तथा अन्य दिव्यशक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले आन्तरिक ज्ञान को आवृत्त किये रहती हैं और मनुष्य में उन्हें प्रकट होने नही देती। इन आवरणों का विनाश उस समय होता हैं जब कि इन्द्रियां सोम-रस से तीक्ष्ण होकर ऋषित्व को प्राप्त करती हैं

और मस्तिष्क में जा पहुचती हैं, क्योंकि मस्तिष्क में ही पणि नामक आसुरी शक्तियों द्वारा छिपाया हुआ दिव्यज्ञान का खजाना निहित है। यह सोमरस शरीर में वीर्य है, ओज है। इस वीर्य व ओज रूपी सोम से सूक्ष्म व तीक्ष्ण होकर ये इन्द्रिया दिव्यदर्शन करने वाली ऋषि हो जाती हैं। अयास्य को यहा 'नवग्वाः' विशेषण दिया गया है। अयास्य की ६ गौएं वे हैं जिन में यह अयास्य प्राण की धारा को वहन किये हुए पहुचता है। वे ७ इन्द्रियों के केन्द्र और मन बुद्धि ये दो मिलकर नौ हो जाते हैं। अयास्य इन नौ गौओं के उद्गमस्थान में विराजमान होता है।

अनाधृष्टानि धृषितो व्यास्य-
न्निधीरदेवां अमृणदयास्यः।
मासेव सूर्यो वसु पुर्यमाददे
गृणानः शत्रूँरशृणाद् विरुक्मता।

ऋ. १०।१३८।४

(धृषित.) शत्रुओं का धर्षण अर्थात् विनाश करने वाला वह (अयास्य) अयास्य

प्राण (अनाधृष्टानि) विनष्ट न होने वाली आसुरी शक्तियों को (व्यास्यन्) परे फेंकता हुआ (अदेवान् निधीन्) अदेव निधियों को (अमृणत्) विनष्ट कर देता है। और (इव) जिस प्रकार (सूर्यः) सूर्य (मासेव) विशिष्ट महीने में पार्थिव रसो को खेंच लेता है उसी प्रकार यह अयास्य (पुर्य वसु आददे) असुरों की पुरी में प्रच्छन्न रूप से निहित ऐश्वर्य को बाहिर निकाल लेता है। (गृणानः) प्रशसित वह इन्द्ररूपी अयास्य (विरुक्मता) विविध प्रकार के तेजों से (शत्रून् अश्रृणात्) शत्रुओं को विनष्ट कर देता है।

यहा पर इन्द्र को अयास्य कहा गया है अर्थात् इन्द्र और अयास्यप्राण में यहाँ एकरूपता हो गई है। जिस प्रकार बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में यह अयास्य प्राण ही बृहस्पति ब्रह्मणस्पति आदि रूपो में वर्णित हुआ है, उसी प्रकार वेद में इन्द्र-रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। यह अयास्य अदेव निधियों अर्थात् आसुरी ऐश्वर्यो को विनष्ट

कर देता है। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु के महीने में सूर्य विशेष रूप में पार्थिव रसों का आकर्षण करता है, उसी प्रकार यह अयास्य असुरों की पुरि में विद्यमान दिव्य-निधि को उनसे छीन लेता है। और जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य की किरणें अत्यन्त तीक्ष्ण होती हैं, उसी प्रकार जिस मनुष्य मे अग्नि खूब प्रज्वलित हो चुकी है, वही आसुरी शक्ति को भस्म कर सकता है।

असुरों का विनाश

देवों के प्रति इन्द्रियों द्वारा किये गये उद्गान के प्रसग मे हम यह दर्शा चुके हैं कि जब असुरों ने अयास्यप्राण को अभिभूत करना चाहा तो वे उससे टकरा कर इस भांति चूर-चूर हो गये जैसे कि पत्थर पर टकरा कर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि अयास्यप्राण में वह कौनसी अद्भुत व अभूतपूर्व शक्ति है, जिस से टकरा कर असुर विनष्ट हो जाते हैं।

इसका एक वाक्य में उत्तर यह है कि अयास्य प्राण वह शक्ति है, और वह स्थान है, जहां इन्द्रियां अपना पार्थक्य समाप्त कर उसमें जा

मिलती हैं। यहां असुरों की पहुच नही है। असुरों को पहुच मन व इन्द्रियों तक ही है, इससे यह स्पष्ट है कि अयास्यप्राण इनसे भी ऊपर है। इस लिये असुर अयास्यप्राण का कुछ भी नही बिगांड़ सकते और वे स्वयं विनष्ट हो जाते हैं। पाप रूपी असुरों के विनाश तथा उन्नति का अभिलाषी मनुष्य अपनी इन्द्रियों को अयास्यप्राण में एकाग्र करने व लवलीन करने का भरपूर प्रयत्न करे। इस सम्बन्ध में शास्त्रों में अनेकों उपाय बताये गये हैं, जिनका हम यथावसर दिग्दर्शन करायेंगे। परन्तु उदाहरण रूप में यहा भी एक उपाय की ओर सकेत किये देते हैं। वह उपाय यह है कि ध्यान के समय इन्द्रिय-गोलकों द्वारा गृहीत बाह्य सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान तथा शारीरिक शुभ-अशुभ वेदनाए मस्तिष्क में विद्यमान केन्द्रो तक पहुंचने न पावे अर्थात् इन्द्रिय गोलकों से चलकर वह इन्द्रिय-सन्देश व वेदना मस्तिष्क में अच्छे बुरे, हानि-लाभ आदि के विवेक व किसी प्रकार के विचार को उद्बुद्ध न कर सकें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि कोई भी वेदना जिसने कि मस्तिष्क में अपनी छाप नहीं

डाली है, वह किसी भी प्रकार के भाव व विचार को उद्‌बुद्ध नही कर सकती। विचार के उद्‌बुद्ध न होने से आसुरी शक्ति के आक्रमण का प्रश्न ही नही उठता। बुरे विचारों का उद्‌बुद्ध होना ही आसुरीशक्ति के आक्रमण का परिचायक है। परन्तु विचारमात्र का उद्‌बुद्ध ही न होना किसी भी प्रकार के आक्रमण का न होना ही सिद्ध करता है। इस तथ्य को हम आगे विस्तार से स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। कहने का भाव यह है कि इस व इस जैसे साधनो का अवलम्बन करने से मनुष्य आसुरी विचारों के आक्रमण से दूर हो जाता है और ध्यान में शनै. २ एकाग्रता बढती रहती है। मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क में विद्यमान आसुरी शक्ति के बन्धन शिथिल हो जाते हैं। अब हम बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित ऐन्द्रियिक पाप-विनाश, तथा उनमें पाप के पुन: प्रवेश का निरोध इन दोनों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। निम्न कण्डिका में वे उपाय इस प्रकार अभिव्यक्त हुए हैं।

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार

तदासां पाप्मनो विन्यदधात् तस्मान्न जनमियान्ना-न्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ।

बृ. उ. १।३।१०

इस प्राण देवता (अयास्य) ने इन इन्द्रियों से पाप को दूर किया । क्योंकि यह पाप ही इनकी मृत्यु का कारण था । इसके लिए उसने यह किया कि उन्हें दिशाओं के अन्त में पहुचा दिया (**दिशा-मन्तस्तद् गमयाञ्चकार**) इससे पाप पूर्ण रूप से विनष्ट हो गया । (**विन्यदधात्**) इसलिये उस अवस्था में न तो उत्पत्ति (जन) होनी चाहिये और ना ही अन्त व समाप्ति होनी चाहिये । यदि ऐसा न हुआ तो उनमें पाप व आसुरी शक्ति के पुनः प्रवेश का भय है ।

इस उपर्युक्त कण्डिका के भाव को पूर्णरूप से हृदयङ्गम करने के लिये इसे हम निम्न तीन विभागों में विभक्त करके देखते हैं ।

(१) इन्द्रियों में से पाप व आसुरी-शक्ति को विनष्ट करना ।

(२) पाप-शमन के पश्चात् इन इन्द्रियों को दिशाओं के अन्त में पहुंचा देना ।

(३) इन इन्द्रियों से पाप सदा के लिये विनष्ट हो जावे, इसके लिये यह उपाय करना चाहिये कि उस समय इन्द्रिय सम्बन्धी विशिष्ट-ज्ञान की न उत्पत्ति (जन) और न समाप्ति (अन्त) हो, नहीं तो पाप व आसुरी-शक्ति उन्हें पुनः अभिभूत कर लेगी । और यही उन इन्द्रियों की मृत्यु का कारण बन जायेगी ।

इस कण्डिका का सक्षिप्त सार यह है कि अयास्यप्राण द्वारा इन इन्द्रियों को उस स्थिति में ला धरना जिससे कि उनके पाप विनष्ट हो जायें और पुनः प्रवेश न कर सकें। यह स्थिति इस प्रकार है कि इन इन्द्रियों से सर्वप्रकार के पाप का शमन करके अर्थात् प्रात.काल की वेला में जिस समय किसी प्रकार का ऐन्द्रियिक पाप विद्यमान न हो, उस समय इन इन्द्रियों को दिशाओं के अन्त में पहुंचा देवे । यथा कण्डिका में निर्देश किया है ।

यत्रासां दिशामन्तस्तद् गमयाचंकार ।

अर्थात् यहां इन इन्द्रिय देवों की दिशाओं के अन्त से क्या तात्पर्य है ? इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि इन्द्रियों की दो दिशाएं हैं ।

एक अन्दर की ओर, दूसरी बाह्य की ओर। इस रहस्य को हम निम्न उदाहरण से भली भांति समझ सकते हैं।

जिस प्रकार विद्युतगृह (Power house) से भिन्न-भिन्न दिशाओं को विद्युत धारा प्रवाहित होती है कहीं पर वह बल्ब जला कर अन्धकार का विनाश करती तो कहीं वह मशीनरी को गतिमय करती, है और कहीं पर वह इससे भिन्न अन्य ही कार्य करती है। विभिन्न कार्यसक्षम इस विद्युत की भी दो दिशाएं हैं। एक तो कार्यक्षेत्र की ओर और दूसरी विद्युतगृह की ओर। विभिन्न कार्यों का निर्वाह करने वाली यह विद्युत अपने घर में आकर एक हो जाती है। इस समय इसका व्यक्त-रूप व व्यक्त-कार्य कुछ भी नहीं रहता। इसलिये उस अवस्था में इस विद्युत से कोई भी कार्य चाहे वह अच्छा हो या बुरा नहीं होता। इसी प्रकार हमारे शरीर में इन्द्रियों की भी दो दिशाएं हैं। एक अन्दर की ओर और दूसरी बाहिर की ओर। अन्दर की ओर जाकर अर्थात् अन्तर्मुखी प्रवाह अवस्था में ये इन्द्रियां अपना वैविध्य खोकर वाक् (चेतना) रूप में एकाकार हो जाती हैं जिसे

मनु महाराज ने निम्न श्लोक में अभिव्यक्त किया है।

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्।

सप्त द्वारों में बिखरी वाक् से अनृत न बोले। इस प्रकार अन्दर की ओर इन इन्द्रियों को ले जाकर अन्त में इनके पार्थक्य को समाप्त कर दिया जावे तो यह भी इन इन्द्रियों की दिशाओं का अन्त है। इस अवस्था में इनमें कोई पाप नहीं रह सकता। इन इन्द्रियों की दूसरी दिशा बाहिर की दिशा है। बाह्य ससार के प्रति जो इन्द्रियों का गमनागमन है, वह बाह्य दिशा की ओर उनका स्वाभाविक प्रयाण होता है। इसीलिये शास्त्रों में इन इन्द्रियों को (**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः**) बाह्य की ओर स्वाभाविक गति वाला बताया गया है। परन्तु बाह्य दिशा मे भी इनको अन्त में ले जाना है। यहां दिशा के अन्त से तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों की सामर्थ्य के अनुसार दूर से दूर वस्तु को लक्ष्य बनाकर इन्द्रियों को उस स्थान में केंद्रित करना। सामान्य रूप से दिशाओं का अन्त लक्ष्य-वस्तु से भी लिया जा

सकता है। उस लक्ष्यवस्तु को एकटक देखना, योग की परिभाषा में लक्ष्यवस्तु पर सयम करना। उस-वस्तु को देखने का स्वरूप यह होना चाहिये कि उस वस्तु का चित्र व तत्सम्बन्धी किसी भी प्रकार का भाव व विचार मस्तिष्क मे अंकित व उद्बुद्ध न होने पावे। और ना ही उस वस्तु की समाप्ति होवे। वस्तु की पूर्ण समाप्ति निद्रा आदि पर अवलम्बित होती है। जिस समय मनुष्य ध्यान करने बैठता है तो यदि उस समय निद्रा आ धमकती है तो ध्येयवस्तु की समाप्ति हो जाती है। अतः समाप्ति न करके अर्थमात्र-निर्भास व स्वरूप शून्य की स्थिति रखनी चाहिये। इसी बात को भगवान् याज्ञवल्क्य ने (न जनमियात् नान्त-मियात्) इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है। इस पद में दो नकार हैं और 'इयात्' क्रिया का भी दो बार प्रयोग है। इन दो स्पष्ट वाक्यों को (**अन्त्यजनं न इयात्**) अन्त्यजन के पास न जावे। इस प्रकार एक वाक्य में कर देना जैसा कि शंकराचार्य ने किया है समीचीन नहीं प्रतीत होता। इन दोनों वाक्यों को पृथक्-पृथक् रखकर इन्द्रियों में ही घटाना उचित प्रतीत होता है। दार्शनिक

परिभाषा में हम उपर्युक्त ध्यान की स्थिति का कुछ-कुछ निर्विकल्पक-ज्ञान शब्दों से भी निर्देश कर सकते हैं। निर्विकल्पक अनुभूति में वस्तु का स्वरूप तो स्पष्ट नहीं हो रहा होता। हां, कुछ है, ऐसा भान होता है। निर्विकल्पक-ज्ञान की अवस्था को हम ब्यौरेवार यूं भी दिखा सकते हैं कि मस्तिष्क में से इन्द्रिय स्थान से किरण चली जो प्रमुख रूप से मध्य में ही रह गई आगे वस्तु तक केवल एक धुंधली सी किरण गई जिसने वस्तु का पूर्णस्वरूप प्रकाशित न कर, वस्तु का निर्विकल्पक-ज्ञान ही कराया। साधना के समय प्रत्येक साधक का संसार के प्रति ऐसा ही सम्बन्ध होना चाहिये जिससे कि मस्तिष्क पर किसी भी प्रकार के संस्कार बद्धमूल न हो सकें। अयास्यप्राण की स्थिति में पहुंचने के लिये मन को किसी एक बिन्दु पर केंद्रित करना भी एक साधन हो सकता है। क्योंकि सर्वप्रथम मन को एकाग्र करना आवश्यक है। हठयोग में त्राटक का भी रहस्य मन को एकाग्र करने में है। घेरण्ड-संहिता और हठयोग प्रदीपिका में आता है कि--

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्

पतन्ति यावदश्रूणि त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥
१. ५४ ।

अर्थात् निमेषोन्मेष का परित्याग कर निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म लक्ष्य को निरन्तर देखे । जब तक अश्रुपात न होने लगे तब तक लक्ष्यवस्तु पर दृष्टि गाड़े रक्खे । इसे त्राटक कहते हैं । इसका फल यह बताया है कि—

नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।
१. ५५ ।

अर्थात् इस त्राटक विधि के सुचारु रूप से सम्पन्न होने पर साधक के नेत्ररोग दूर हो जाते हैं, और दिव्यदृष्टि पैदा हो जाती है ।

अर्थात् त्राटक के समय किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प आदि कुछ नहीं होता । किसी प्रकार की मानस की परिवर्तनशील क्रिया नहीं होती । मन एक स्थान पर बद्ध हो जाता है, यह प्रयास्य पर पहुंचने का उपक्रम होता है । कहने का भाव यह है कि इस अवस्था में मनुष्य पूर्णरूप से न तो विषयों में होता है ना ही इन्द्रियगोलकों में

और ना हीं मस्तिष्क में होता है। उस समय यह मध्यस्थान में होता है जो कि अयास्यक. स्थान है।

कई यह प्रश्न कर सकते हैं कि निर्विकल्पक-ज्ञान की अवस्था का क्यों ग्रहण किया? सविकल्पक का क्यों नहीं ? इस सम्बन्ध मे सक्षेप में उत्तर यह है कि सविकल्पक ज्ञान मे मन का प्रवेश हो जाता है क्योंकि उसमे वस्तु का गुणावगुण निर्णय, विभक्तिकरण आदि मानसिक व्यापार होते हैं और मन असुरों से आक्रान्त हो जाता है। इसलिये सविकल्पक ज्ञान का ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार किसी वस्तु को एकटक देखना, वस्तु का केवल निर्विकल्पकज्ञान होना, और वस्तु का स्वरूप-शून्य-सदृश अर्थमात्र-निर्भास होना, दूरस्थ पदार्थों व शक्तियों पर ध्यान एकाग्र करना इत्यादि अनेकों साधन मन से ऊपर हैं और ये साधन मन तथा इन्द्रियों के पापों व आसुरी शक्ति का विनाश करने वाले हैं और **"न जनमियात् नान्तमियात्"** की ये सब व्याख्याएं हैं। इन सब साधनों का अवलम्बन करते हुए इस बात का अवश्य ध्यान

रखना चाहिये कि मन में सकल्प-विकल्प व किसी प्रकार का भी विचार उद्‌बुद्ध न होने पावे। गीता के शब्दों में—"**आत्मसस्थं मन कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।**" की स्थिति रहे।

संयम-अयास्य

इस अयास्य-प्राण के अन्तर्गत इन्द्रियों के विलीन होने पर शरीर की जो अवस्था होती है अर्थात् शरीर की आन्तरिक शक्तियों की उस समय जो सघटना होती है, उसको हम योगदर्शन की भाषा में 'सयम' नाम से कह सकते हैं। योगदर्शन में 'सयम' शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। योगदर्शन का सूत्र है 'त्रयमेकत्र सयम' अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एक विषय में प्रवृत्त होना योगदर्शन की परिभाषा मे 'सयम' कहलाता है। यहा पर हमें धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनो का लक्षण देने की आवश्यकता नही है। अयास्य के साथ सयम का मिलान करने के लिये केवल समाधि का लक्षण हम यहा दिखाते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।
—विभूतिपाद ३ ।

अर्थात् वही ध्यान उस अवस्था में समाधि रूप में परिणत हो जाता है, जब कि चिन्तन करते हुये ध्येय वस्तु का संपूर्ण रूप तो भासित न हो, केवल उस वस्तु की अतिविरल व क्षीण सी कुछ-कुछ आभा दृष्टिगोचर होती हो। इस स्थिति को सूत्र के शब्दों में 'अर्थमात्र निर्भास' और 'स्वरूप शून्यमिव' शब्दों में प्रकट किया है। उपनिषत् की भाषा में अर्थ व वस्तु का कुछ-कुछ आभासित होना और स्वरूप शून्य की तरह प्रतीत होना 'न जनमियात् नान्तमियात्' की ही व्याख्या है। हमें यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि यह समाधि जिस का कि ऊपर लक्षण दिया है सम्प्रज्ञात योग का पूर्ण रूप है। सम्प्रज्ञात योग अगी है तो यह अग है। इसी समाधि की अवस्था में अयास्य 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' को वहन किये हुए आता है और मनुष्य के मस्तिष्क में उसे ला उतारता है। अयास्य द्वारा मस्तिष्क मे 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के अवतरण को योगदर्शन की परिभाषा मे इस प्रकार कहा 'तज्जयात् प्रज्ञालोकः' अर्थात् संयम के जय से

मस्तिष्क मे ऋतुम्भरा प्रज्ञा का प्रकाश फैल जाता है। इसी तथ्य को अयास्य ऋषि के वेद मन्त्र में इस भांति अलंकृत व परिपुष्ट किया गया है।

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजाता बृहतीमविन्दत्

ऋ० १०।६७।१

इस मन्त्र का ऋषि अयास्य है, वह कहता है कि सात सिरों वाली (सप्तशीर्ष्णीं धियं) ऋत से उत्पन्न इस महान् बुद्धि (ऋतम्भरा प्रज्ञा) को हमारे पिता अंगिरा ने प्राप्त किया।

यहां सात सिरों वाली धी (सप्तशीर्ष्णी धी) मस्तिष्क में सप्तेन्द्रियों का स्थान है जिसे कि आधुनिक डाक्टरी परिभाषा में Rolandic area कह सकते हैं। और ऋतोदक मस्तिष्क-द्रव (Cerebro-Spinal fluid) है।

अयास्य आदि जितने भी आंगिरस हैं उन का पूर्ववर्ती अर्थात् पिता अंगिरा है, यह हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं। इस मन्त्र की विशेष व्याख्या हम आगे करेंगे। कहने का भाव यह है कि पातजल-दर्शन की 'संयम' परिभाषा और इन्द्रिय व मन

आदि के अयास्य प्राण में लीन होने की अवस्था ये दोनों समकोटि अवस्थाये हैं। इन दोनों अवस्थाओं के बाद ही ऋतम्भरा प्रज्ञा के अवतरण की चर्चा शास्त्रो में आयी है।

सन्धि-स्थल (अयास्य)

हम ऊपर यह दर्शा चुके हैं कि मस्तिष्क द्रव में विद्यमान ब्रह्म संवलित वाक् और सप्तऋषि (सप्तशीर्ष्णी धी) के मध्य का सन्धि-स्थल अयास्यप्राण है। और इसी भांति सप्तशीर्ष्णी-धी और इन्द्रियगोलकों का भी यह अयास्य सन्धि-स्थल है। इस प्रकार ये दो सन्धिया हो जाती हैं। एक सन्धि ब्रह्म सवलित वाक् और सप्तशीर्ष्णी धी के मध्य और दूसरी सप्तशीर्ष्णी धी और इन्द्रियगोलको व इन्द्रियप्रान्तो (End organs) के मध्य। प्रथम सन्धिस्थल देवक्षेत्र है और द्वितीय सन्धिस्थल मानवक्षेत्र है। इस दूसरे सन्धिस्थल अर्थात् मानवक्षेत्र को यह अयास्य अपान क्रिया द्वारा मानवक्षेत्र में ही रखता है। वह इस प्रकार कि जो वस्तु की अनुभूति इन्द्रिय ने बाह्यजगत् से ग्रहण की उसे अपान अर्थात् बाहिर निकालने की

प्रक्रिया द्वारा लौटाता रहता है। इस प्रकार वह अनुभूति मस्तिष्क में नहीं आने पाती। उस वस्तु का चित्र मस्तिष्क में अंकित नहीं हो पाता। इसी बात को जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में इस भांति अभिव्यक्त किया कि पचवृत्ति वाला यह अयास्य-प्राण 'अपानेन मनुष्यान् मनुष्यलोके अदधात्'। अपान क्रिया द्वारा अर्थात् बाहिर की ओर धकेलने की प्रक्रिया द्वारा मानव क्षेत्र की अनुभूतियो को मानवलोक मे ही रखता है। मन के कारण मनुष्य, मनुष्य कहलाता है। मन का अपना स्वाभाविक लोक जहां कि यह मन स्वाभाविक गति रखता है वह शरीर का अधोभाग और बाह्य जगत् है। सामान्य मनुष्य का मन प्राय इन्ही दो स्थानो पर रहता है। अत ये मनुष्य के अपने लोक हैं। दूसरा सन्धिस्थल देवक्षेत्र में आता है। वह ब्रह्म-सवलित-वाक् और सप्तेन्द्रिय-केन्द्रों के मध्य में है। यह दिव्य वाक् ऊपर से अवतरण कर सप्तेन्द्रिय केन्द्रो में बट जाती है। और तत्पश्चात् ये इन्द्रियाँ वाक् की आज्ञा को शिरोधार्य कर

बाह्य संसार की ओर दौड़ पड़ती हैं । परन्तु अयास्य उस वाक् को प्राण के बल से मध्य में ही रोक देता है अर्थात् उस वाक् को सप्तेन्द्रियों के केन्द्रों में उतरने नहीं देता । क्योंकि सप्तेन्द्रिय-केन्द्रों में उतरने पर ये इन्द्रियां क्रियाशील हो जाती हैं। और अपने स्थानों (देवलोक) को छोड़ बाह्य ससार (इन्द्रिय गोलकों) की ओर प्रयाण कर देती हैं। अयास्य के इस कार्य को जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में इस भांति प्रस्तुत किया कि 'प्राणेन देवान् देवलोके अदधात्' अर्थात् वह अयास्य प्राण के बल से देवों (इन्द्रियदेवों) को देवलोक में रोके रखता है। उस समय मस्तिष्क में किसी प्रकार की चेतना का उद्‌बोधन नहीं होता। अर्थात् न कोई विचार उद्बुद्ध होता है । और नाहीं इन्द्रियों का अपने विषयों के प्रति गमन होता है। यह सब अयास्य प्राण का प्रभाव है। इस के अतिरिक्त यह अयास्य पितरों को व्यान के द्वारा पितृलोक में रोके रखता है (व्यानेन पितॄन् पितृलोकेऽदधात्) । शरीर में जीवनीय अंग (Vital

organs) पितर हैं और इन का नियामक सुषुम्णा-शीर्षक (Madulla-pons) पितृलोक है। श्वास-प्रश्वास क्रिया के अधीन सब अंग, अन्न का निगरण व अन्न का पाचन करने वाले उदरादि अवयव पितर कहलाते हैं। इन्हीं पितरों के लिये अपूप आदि सुगन्धित, स्वादिष्ट, मधुर व पोषणीय भोज्य पदार्थ देने का मन्त्रों (यजु० २।३२, अथर्व १८।४) में विधान आता है। ये पितर (Vital organs) व्यानवायु के प्रभाव से अवरुद्ध हो जाते हैं। श्वास-प्रश्वास की गति निरुद्ध हो जाती है। अन्न-पाचन के अवयव अपना कार्य करना छोड़ देते हैं। क्योंकि शरीर में जो प्राण अपान की क्रियाएं हो रही हैं वे भी सब व्यान के कारण हैं। जैसा कहा भी है 'प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना' अर्थात् प्राणापान की सब क्रियाए व्यानवायु के प्रभाव से ही होती हैं। इस का तात्पर्य यह है कि व्यान के अवरोध से शरीर में प्राण-अपान आदि की सब क्रियाएं अवरुद्ध हो जाती हैं। अब विचारणीय यह है कि यह अयास्य

इन प्राण, अपान व व्यान आदि को कैसे अवरुद्ध कर देता है । इस का संक्षिप्त उत्तर यह है कि पंचवृत्तियों को वहन करने वाले इस अयास्यप्राण में व्यान को केन्द्रित करने पर वृत्तियां अवरुद्ध हो जाती हैं, वृत्तियों के अवरुद्ध होने पर सपूर्ण शरीर के किसी भी अवयव को आदेश न पहुंचने पर प्राण, अपान और व्यान व उन के अधीन हो रही सब क्रियाएं भी अवरुद्ध हो जाती हैं। ये सब प्राण आदि अपने-अपने स्थानों में, अपने-अपने लोकों में शान्तभाव से स्थित रहते हैं।

एक सन्धिस्थल और भी है और वह मस्तिस्क व हृदय के मध्य का है । जिस बिन्दु पर अथर्वा व्यक्ति हृदय और मस्तिष्क को सीता है। वह निम्न मन्त्र में इस भांति वर्णित हुआ है।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् . .

अर्थात् अथर्वा व्यक्ति मूर्धा और हृदय को परस्पर सी देता है। इस प्रकार मस्तिष्क व हृदय के मध्य की भी यह सन्धि वेद में वर्णित हुई है। इन सब सन्धियों का स्वामी अयास्यप्राण है। इन सन्धियों

में स्थित होकर दीर्घ सन्ध्या निरन्तर करने वाले व्यक्तियों को दो प्रकार की सफलताएं प्राप्त होती हैं। एक अयास्यप्राण की महिमा से इन्द्रियां अपने पूर्वस्रोत के समकक्ष दिव्यशक्तिसम्पन्न व व्यापक हो जाती हैं। दूसरे मृत्यु दूर हो कर आयुष्य की वृद्धि होती है। इसी कारण अयास्य को उपनिषत् के दूसरे शब्दों में 'दूर' नाम से भी सम्बोधित किया गया है। अर्थात् इन सन्धिस्थलों में स्थित हो कर मन को एकाग्र कर ध्यान करने से मृत्यु दूर भागती है। शास्त्रों का वचन है 'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुवन्' अर्थात् दीर्घ-सन्ध्या करने के कारण ऋषि दीर्घायुष्य वाले होते थे। 'दूर' के यहां दो भाव हैं। एक तो यह कि अयास्य ब्रह्म सवलित वाक् के समीपस्थ होने के कारण अर्थात् मनुष्य के मस्तिष्क की अन्तरतम गुहाओं में विद्यमान होने के कारण अत्यन्त अज्ञेय है। अत्यधिक परिश्रम करने से प्राप्त होता है। इस लिये यह 'दूर' नाम से कहा जाता है। 'दूर' का दूसरा भाव यह है कि इस दूरस्थ अयास्यप्राण

में पहुंचकर अत्यन्त दूरस्थित पदार्थों का ध्यान किया जाता है। जैसा कि योगदर्शन में कहा भी है।

(भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्)

सूर्य में संयम करने से संपूर्ण भुवन का ज्ञान हो जाता है।

(चन्द्रे तारा व्यूहज्ञानम्)

चन्द्र में संयम करने से तारा-मण्डल का ज्ञान हो जाता है।

(ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्)

ध्रुव में संयम करने से तारा-समूह की गतियों का ज्ञान होता है।

ये सूर्य, चन्द्र तथा ध्रुव आदि दूर हैं। संयम करने के समय अयास्यप्राण में स्थित होकर ही इन दूरस्थ पदार्थों के प्रति मानसिक गति का अटूट प्रवाह होना चाहिये। शनैः-शनैः यह मानसिक प्रवाह समाप्त होता जायेगा और अन्त में अयास्य में पूर्ण रूप से विलय हो जायेगा।

बृहस्पति—ब्रह्मणस्पति

इस अयास्यप्राण को बृहदारण्यकोपनिषत् में बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति भी कहा गया है। इस का बृहस्पति नाम ऋगात्मक वाक् के सम्बन्ध से है और ब्रह्मणस्पति नाम यजुषात्मक वाक् के सम्बन्ध से है। बृहस्पति के सम्बन्ध में हमने इस निबन्ध में एक स्थल पर कुछ विचार किया भी है और विस्तृत विचार हम इन दोनों पर स्वतन्त्र रूप में लिखते हुए ही करेंगे। अब हम संक्षेप में यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि इस अयास्यप्राण को साम किस दृष्टि से कहा गया है।

सामरूप अयास्य

बृहदारण्यकोपनिषद् में आता है—

एषउ एव साम वाक् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाऽश्नुते साम्नः सायुज्यं सलोकतां य एवमेतत्साम वेद।

बृ० उ० १।३।२२

इस का संक्षिप्त भाव यह है कि साम के दो विभाग हैं। एक 'सा' और दूसरा अम। इन दोनों

के मेल से साम शब्द बना है। इनमें 'सा' स्त्री है और अम पुरुष है। प्राण की दृष्टि से कहा जाये तो प्राण पुरुष रूप है और जो प्राण का आधार है, वह स्त्री रूप है। इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड को हम इसी दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। क्षुद्र से क्षुद्र कीट पतंग आदि से ले कर महान् से महान् प्राणी तक सभी में प्राण की पुरुष रूप में कल्पना की जा सकती है, और उन का शरीर आदि जो आधार है वह स्त्री रूप माना जा सकता है। सब में यह प्राण एक समान है। छोटे बडे का यहां भाव नही। जिसकी जितनी शक्ति व आयतन है, उस में वह उतने रूप में समा कर परिपूर्ण है, न न्यून है और न अधिक है। सब में वह एक समान रूप से व्यापक है। इस लिये अयास्यप्राण को साम कह दिया गया है। यह एक सामान्य व्याख्या है। इसका दूसरा भाव जो कि प्रमुख है वह यह है कि इस अयास्यप्राण में स्थित होकर मनुष्य सब के लिये एक समान हो जाता है, अथवा सब उस मनुष्य के लिये एक समान होते हैं। उस के लिये मक्खी, मच्छर, हाथी आदि का विभाग समाप्त हो जाता है। क्योंकि यह स्थूल, सूक्ष्म, स्वल्प व विशाल

आदि का विभाग इन्द्रियानुभूति से सम्बन्ध रखता है। परन्तु इस अयास्यप्राण में लीन होने पर इन्द्रियां ही अपने पार्थक्य को समाप्त कर देती हैं, तो इस अवस्था मे विभक्त अनुभूति कहां ? अतः ये सब विभेद इस अवस्था में समाप्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से अयास्यप्राण को साम कह दिया गया है।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में भी इस अयास्य नामक उद्गीथ प्राण का बहुत विस्तृत वर्णन हुआ है। इस अयास्यप्राण की भिन्न-भिन्न ऋषियों ने भिन्न-भिन्न उद्देश्य को लेकर भिन्न-भिन्न नामों से साधना व स्तवन किया है। वहा यह भी आता है कि जिस व्यक्ति मे यह प्राण प्रदीप्त हो जाता है सर्वप्रथम उसकी उस दीप्ति पर ही मनुष्यों का ध्यान जाता है और बाद में उसके वस्त्रों आदि पर जाता है, परन्तु इस के विपरीत सामान्य मनुष्य के वस्त्रों पर ही सबका ध्यान जाता है इसी बात को इन शब्दों में रक्खा गया है–अस्य ह्यसावग्रे दीप्यते अमुष्य वासः, जै० उ० २।२।२।२ अर्थात् प्रदीप्त प्राण वाले व्यक्ति का प्राण ही सर्व प्रथम दृष्टि गोचर होता है और सामान्य जन का वस्त्र। अब

हम सक्षेप में यह दर्शाते हैं कि किस ऋषि ने इस अयास्यप्राण की किस उद्देश्य को लेकर किस नाम से उपासना की।

	ऋषि	प्राण नाम
१.	शाटचायनि	दीप्ताग्रः
२.	कारीरादयः	आभूतिः
३.	सात्ययज्ञयः	सम्भूति.
४.	शैलनाः	प्रभूतिः
५.	माल्लविनः	भूतिः
६.	पार्ष्णश्शैलनः	अपरोधोऽनपरुद्धः

वीरत्व भावना से

७.	आरुणेय	एकवीरः	प्राणः

१. दीप्ताग्रा ह वा अस्य कीर्तिर्भवति ।
२. प्राण वा अनुप्रजाः पशव आभवन्ति ।
३. समेव प्राणेन प्रजया पशुभिर्भवति ।
४. प्राणं वा अनुप्रजाः पशवः प्रभवन्ति ।
५. प्राणं वा अनुप्रजाः पशवो भवन्ति ।
६. एष ह्यन्यमपरुणद्धि नैतमन्यः । एष हवाऽस्य द्विषन्तं भ्रातृव्यमपरुणद्धि य एवं वेद ।

पुत्रभावना से

८. चैकितानेयः–

एकपुत्रः	प्राणः ।
द्विपुत्रः	प्राणापानौ ।
त्रिपुत्रः	प्राणोऽपानो व्यानः
चतुष्पुत्र.	प्राणोऽपानो व्यानः समानः ।
पञ्चपुत्रः	प्राणोऽपानो व्यानः समानोऽवानः ।
षट्पुत्रः	प्राणोऽपानो व्यानः समानोऽवान उदानः ।
सप्तपुत्रः	सप्त हीमे शीर्षण्याः प्राणा. ।
नवपुत्रः	,, ,, ,, द्वाववाञ्चौ ।
दशपुत्रः	,, ,, ,, नाभ्यां दशमः ।
सहस्रपुत्रः	सहस्रं हैत आदित्यरश्मयः ।
(बहुपुत्रः)	

अयास्य नामक उद्गीथ प्राण के आविर्भूत होने पर उपर्युक्त जितने पुत्रों की कामना हो या जिस उद्देश्य की पूर्ति अभीष्ट हो उसका मन से ध्यान करें। कहा भी है—

स यदि ब्रूयादेकम्म आगायेति प्राण उद्गीथ-इति विद्वानेकम्मनसा ध्यायेत्। एको हि प्राणः एको हास्याजायत इति.. .स यदि ब्रूयात् सहस्रम्म आगा-येति प्राण उद्गीथ इत्येव विद्वान् सहस्रं मनसा ध्या-येत्। सहस्रं हैत आदित्यरश्मयः। तेऽस्य पुत्राः।

जै० उप० २।२।१-४

सप्तहोता और अयास्य

सप्तहोता नाम इन्द्रियों का है। "इन्द्रिय वै सप्तहोता। इन्द्रियमेवात्मन्धत्ते।" तै० ब्रा० २।२-८।२-३ अर्थात् इन्द्रियां सप्तहोता हैं, इन्हें आत्मा में ला धरते हैं अर्थात् इन के वैविध्य को मिटा कर इन्हें आत्मा में केन्द्रित कर देते हैं। वहां ये इन्द्रियां अपने स्वरूप व सत्ता को विलीन कर आत्मा से एकी भाव को प्राप्त होती हैं। यहां यह बात भी स्मरणीय है कि शास्त्रों में इन्द्रियों से तात्पर्य उन के गोलकों से नहीं होता प्रत्युत शीर्षण्य प्राण (Brain Centres) अर्थात् शिरः स्थानीय इन्द्रिय केन्द्रों से होता है। इन्द्रिय गोलकों में केन्द्रीय स्थान से किरण व रश्मि आती है और बाह्य ससार से सम्पर्क करती है। इसी दृष्टि से अनेकों

स्थलों पर इन्हें शीर्षण्यप्राण कहा गया है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल इस प्रकार हैं। 'सप्त चात्मनः शीर्षण्यान्प्राणान्स्पृणोति । आदित्यस्य च सायुज्य गच्छति' तै० ब्रा० २।३।७।४। अर्थात् मनुष्य इन सात शीर्षण्य प्राणों को जब बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से हटाता है, तब दूसरी ओर विज्ञानात्मा के साथ उसका सम्पर्क करता है।

इसी प्रकार एक और स्थल पर इन सप्तहोताओं को शीर्षण्य प्राण कहा गया है।

सप्तकृत्वोऽह्वयत् । होत्रः प्रत्यशृण्वन् । ताः सौम्येनैवाध्वरेण यज्ञक्रतुनोपपर्यावर्तन्त । ता उपोहन्त्सप्त शीर्षण्यान् प्राणान् ।

तै० ब्रा० २।३।६।३,४

उपर्युक्त प्रकरण की व्याख्या सायणाचार्य ने इस प्रकार की है—

सप्तवारमाह्वानाच्छिरोनिष्ठसप्तच्छिद्रवर्तिप्राणानयनात् । तत्साधनं सोमाध्वरे सप्तहोत्राः सम्पन्नाः ।

इस का भाव यह है कि सोमयाग में सात बार आह्वान करने पर शिर के सात छिद्रों (Brain Centres) में विद्यमान प्राणों का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार उल्लिखित उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि सप्त होताओं से सिर में विद्यमान सातों इन्द्रियों का ग्रहण होता है। ये सप्तहोता ही सप्तऋषि हैं। ब्रह्म अर्थात् आत्मा से सयुक्त वाक् इन सप्तहोताओं द्वारा आत्मिक यज्ञ रच रही है। इस आत्मिक यज्ञ का चित्र उपनिषद् मन्त्र में इस प्रकार खींचा गया है।

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना। बृ० उ० २।२।३

वाक्

यह ब्रह्म सवलित वाक् वैखरी वाणी नहीं है, जो कि शब्द व ध्वनि रूप में साधारण जन द्वारा उच्चारित होती है। यह तो मस्तिष्क-द्रव में तैरते हुए आत्मा रूपी हंस की वाक् है। इस दिव्य वाक् को द्रवकूपों (Ventricles) के किनारे यज्ञ-वेदी बना कर बैठे हुए ये सप्तहोता, सप्त ऋषि अर्थात्

सप्त शीर्षस्थ प्राण ग्रहण करते हैं। यह वाक् एक है, एक होते हुए यह सप्तशीर्षों अर्थात् सातों इन्द्रियों में बंट जाती है। इसी तथ्य को मनु महाराज ने निम्न रूप मे प्रकट किया है—

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्।

मनुष्य को चाहिये कि इन सात इन्द्रियद्वारों मे बिखरी वाणी को अनृत न करे।

इससे यह सिद्ध है कि यह वाणी, सामान्य वाणी नही है। एक प्रकार का सूक्ष्म आदेश है। एक दिव्य व अलौकिक उच्चारण है। इस दिव्य वाणी को वहन करने वाले अयास्यप्राण के लिये ऐसे ही अलौकिक व दिव्य ध्वनि वाले मुख (आस्य) का यहा ग्रहण करना चाहिये। आधुनिक शरीर विज्ञान में जिसे नाड़ी का स्पन्दनमात्र कह कर सन्तोष कर लिया जाता है, इसी स्पन्दन को वेदों की सूक्ष्म विवेचनात्मक विशिष्ट प्रणाली द्वारा ज्ञान के सात विभागों में विभक्त किया जाता है। यह विभाग करने वाला अयास्य नामक सूक्ष्मप्राण है। इसका केंद्र स्थान मस्तिष्करूपी देवलोक है। इसी देवलोक से अवतरण करती हुई इस दिव्य वाणी

को यह अयास्य सप्त केंद्रों मे विभक्त कर देता है। और फिर इन सातों को वहन किये हुये शरीर के अन्य भागों व अधोभागों में विचरता है। अतः उपर्युक्त सन्दर्भ मे हमने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि पंचवृत्तियों मे रमने वाला यह अयास्य-प्राण दिव्यवाक् को सप्तद्वारों मे विभक्त कर देता है। इसका मुख (आस्य) द्रवकूपो (Ventricles) के तीर पर है जहां से कि यह सप्तधाराओं मे बटता है।

इन्द्रियों का दिव्यीकरण

पुरातन काल से इस भूतल पर ऐसे व्यक्ति प्रादुर्भूत होते रहे हैं, जिनको इन्द्रियों मे दिव्यशक्ति प्रस्फुटित हुई है। और वे दिव्यशक्ति के प्रभाव से इन्द्रियों से भी ओझल व अतिदूरस्थ पदार्थों व घटनाओं आदि का सत्य चित्र देखते रहे हैं। आधुनिक समय मे भी ऐसी अदभुत-शक्ति वाले व्यक्ति कई देशों मे पाये गये हैं जिनको शक्ति का प्रदर्शन समय-समय पर जनसाधारण को होता रहा है। आधुनिक समय के मनोवैज्ञानिकों ने इस शक्ति को क्लेयर वोएन्स (Clair Voyance) नाम

दिया है। भारतीय साहित्य मे यह शक्ति दिव्य-शक्ति कहलाई है। पुरातन भारतीय साहित्य में इसकी प्राप्ति के अनेकों साधनों का वर्णन हुआ है। उन सब साधनों में एक साधन अयास्यप्राण से भी सम्बन्ध रखता है। अतः अब हम अयास्य-प्राण द्वारा इन्द्रियों के दिव्यीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

मानव शरीर में तीन प्रकार का यज्ञ चालू है। एक मानवयज्ञ, दूसरा पितृयज्ञ, तीसरा देवयज्ञ। शरीर का पालन पोषण करने वाले अवयवों (Vital organs) मे पितृयज्ञ द्वारा वृद्धि, पुष्टि आदि होती है। यह मुख्य रूप से स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखता है। दूसरा मानव यज्ञ है। इसके द्वारा मन व इन्द्रियां आदि अपना प्रतिदिन का सामान्य कार्य पूरा करती हैं। अतः मन द्वारा निष्पन्न कार्य को मानव-यज्ञ कहा गया है। तीसरा देवयज्ञ है। इसका सम्बन्ध मुख्यरूप से सिर से है। इन्द्रियों के दिव्यीकरण में अयास्य इन तीनों को नियन्त्रित करता है, जैसा कि जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण। (२. ३. १. ६) में आता है। इस वर्णन को हम आगे स्पष्ट करेंगे। इससे पूर्व हम

बृहदारण्यकोपनिषद् के तत्सम्बन्धी प्रकरण को यहां दिखाते हैं।

वेदों में आता है कि यह शरीर सब देवताओं का निवास स्थान है। अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा आदि सब देवता अंशरूप में इस शरीर में विराजमान हैं। पर आसुरी शक्ति से आवृत होने के कारण वे अपने सर्वोच्च पूर्ण देवरूप में प्रगट नही हो पाते। एक प्रकार से वे मृत के सदृश हैं। इन्द्रियों को आवृत करने वाली आसुरी-शक्ति का प्रकाश मनुष्य में पाप रूप में होता है। अतः इन्द्रियों से पाप करना, आसुरी-शक्ति के प्रभाव में उन्हें लाना है, दूसरे शब्द में उन्हें मारना है। इसके विपरीत आसुरी-शक्ति का विनाश करना पाप का विनाश करना है, और इन्द्रियों को अमर करना है। इन अमर अर्थात् निष्पाप इन्द्रियों में दिव्यशक्ति को उत्पन्न करने का विधाव बृहदारण्यकोपनिषद् में आता है। उपनिषद् का वह प्रकरण अब हम यहां दिखाते हैं।

वाणी में (दिव्यता)–अग्नि

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत् सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते । बृ. उ. १. ३. १२ ।

उस अयास्य-प्राण ने सर्वप्रथम वाक्-देवता को मृत्यु के पार पहुचाया । वह वाक् जिस समय मृत्यु से पार हुई तो वह अग्नि बन गई । इस अवस्था में यह वाक् अग्नि मृत्यु का अतिक्रमण कर अत्यधिक शक्ति से प्रदीप्त होती है ।

वाणी में अग्नि के प्रादुर्भाव का रहस्य यह है कि वह शत्रु को अपनी वाणी द्वारा भस्म कर सकता है और जिसे चाहे पावक बन परिपूत व शुद्ध कर सकता है । उस की वाणी में वह ओजस्विता पैदा हो जाती है कि कोई भी उसकी ब्रह्मगवी को धर्षित नही कर सकता । वेद में भी अग्निरूप वाणी की अलौकिक शक्तियों का संक्षेप में दिग्दर्शन हो जाता है । उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं––

अश्मानं चिद् ये बिभिदुर्वचोभिः ।

ऋ. ४. १६. ६ ।

अर्थात् जिन्होंने वचनों द्वारा पत्थर को भी फोड़ डाला।

क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि।

अथर्व. २. ३१. ४

क्रिमियों को मैं वाणी से विनष्ट करता हू।

वचोभिरुग्रै निरिणामि ते विषम्।

अथर्व. ५. १३. १।

उग्र वचनों से मैं तेरे विष (सर्पविष) को दूर करता हू।

यत् त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति . . . .
सर्वं तद्वाचापहन्मो वयम्।

अथर्व. १. १८. ३।

अर्थात् जो तेरे शरीर में घोर वस्तु है, उसे हम वाणी से विनष्ट करते हैं।

इसी प्रकार ऐसे भी मन्त्र दिखाये जा सकते हैं, जिन में दिव्यवाणी द्वारा कष्टों व आपत्तियों से पार होने का विधान है।

उत्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ।

अथर्व. ८. १. १३ ।

अर्थात् दिव्यवाणी द्वारा मैं तेरा निर्ऋति के पाशों से उद्धार करता हू ।

इसी भांति और भी अनेकों मन्त्र वेदों मे आते हैं जिनमे वाणी की दिव्यता का वर्णन पाया जाता है ।

नासिक्य-वायु

अथ प्राणमत्यवहत् स यदा मृत्युमत्यमुच्यत ।
स वायुरभवत् ।
सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ।।

बृ. उ. १. ३. १३ ।

तत्पश्चात् अयास्यप्राण ने नासिक्य प्राण का अतिवहन किया । वह नासिक्य प्राण जिस समय मृत्यु से मुक्त हुआ तो वायु हो गया । यह वायु भी मृत्यु से अतिक्रान्त हो, बह रहा है ।

मनुष्य के नासिक्य प्राण से मृत्यु के दूर होने और उसके वायु बन जाने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सदागति वायु भूमण्डल में सर्वत्र अभिव्याप्त है, और उसका विनाश नही है उसी प्रकार नासिक्य प्राण की शक्ति भी इस सम्पूर्ण वायु-मण्डल मे अभिव्याप्त हो कार्य करती है।

चक्षु-आदित्य

अथ चक्षुरत्यवहत् तद् यदा
मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्।
सोऽसावादित्यः परेण
मृत्युमतिक्रान्तस्तपति।
बृ. उ. १ ३ १४।

नासिक्य प्राण के पश्चात् अयास्य ने चक्षु का अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्यु से पार हुआ तो आदित्य बना। जिस प्रकार यह व्योमस्थ आदित्य मृत्यु से अतिक्रान्त हो तप रहा है उसी प्रकार यह चक्षु आदित्य भी तपता है।

इसका भाव यह है कि यह चक्षु अयास्य-प्राण मे केन्द्रित हो जिस समय आदित्य के समकक्ष हो

जाती है, उस समय कोई भी वस्तु मनुष्य के लिये अप्रकाशित नही रहती । सामान्य दृष्टिशक्ति से परे की दूरस्थ वस्तुओं को भी वह देख लेता है। इस दिव्यचक्षु से जिसे चाहे भस्म कर सकता है और जिसे चाहे प्राणों से अनुप्राणित कर सकता है।

वेद मे इस दिव्य चक्षु का इसप्रकार वर्णन हुआ है–

अथर्वज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ।

ऋ. १०. ८७ १२ ।

हे अग्नि ! तू अथर्वाव्यक्ति के समान अपनी दिव्यज्योति द्वारा सत्य के विनाशक अज्ञान को जला डाल ।

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञम् ।

ऋ १०. ८७ ६ ।

हे अग्नि ! तू तीक्ष्ण चक्षु से यज्ञ की रक्षा कर।

चक्षुषा ते चक्षु र्हन्मि ।

ऋ. ५. १३. ४. ।

हे सर्प ! मैं अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से तेरी दृष्टि को विनष्ट करता हूं ।

श्रोत्र दिशाएं

अथ श्रोत्रमत्यवहत् तद् यदा मृत्युमत्यमुच्यत ।
ता दिशोऽभवँस्ता इमा दिश परेण मृत्युमतिक्रान्ताः॥

बृ उ. १. ३. १५ ।

अब श्रोत्र का अतिवहन किया । वह जिस समय मृत्यु से पार हुआ, उस समय वह दिशा बन गया । वे ये अतिक्रान्त दिशाए मृत्यु से परे हैं ।

श्रोत्र के दिशा बनने का फल यह है कि ऐसा दिव्य श्रोत्र वाला व्यक्ति श्रोत्र की सीमा से अति-दूरस्थ शब्दों को भी सुन सकता है ।

मन चन्द्रमा

अथ मनोऽत्यवहत् तद् यदा मृत्यु-
मत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत् ।

सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो
भात्येवं ह वा एनमेषा देवता
मृत्युमतिवहति य एवं वेद ।।
बृ. उ १. ३ १६ ।

अब अयास्य ने मन का अतिवहन किया, वह जिस समय मृत्यु से पार हुआ तो चन्द्रमा बन गया। इस अवस्था में यह मनः रूपी चन्द्रमा मृत्यु को अतिक्रमण कर चमक रहा है। इसी प्रकार यह अयास्य देवता उसको मृत्यु से पार करती है जो इस रहस्य को जानता है।

चन्द्रमा दिव्य-शान्ति व दिव्य आनन्द का स्रोत है। वही चन्द्रमा मनुष्य में मन रूप में स्थित है। यह मन साधना द्वारा जब चन्द्रमा के सदृश शक्ति-सम्पन्न हो जाता है तो मनुष्य में दिव्य शान्ति का साम्राज्य छा जाता है और चिन्ता, शोक आदि का विनाश हो दिव्य आनन्द का स्रोत बहने लगता है।

इन्द्रियों के दिव्यीकरण का यह प्रकरण हमने

बृहदारण्यकोपनिषद् से उद्धृत करने का प्रयत्न किया। वेदों मे भी अनेकों स्थलों पर इन इन्द्रियों की दिव्यता का परिचय मिल जाता है। कुछ मन्त्रों व मन्त्र पदो का हमने स्थान-स्थान पर दिग्दर्शन कराया भी है परन्तु विचारणीय यह है कि ये इन्द्रिया कब दिव्य बनती हैं ? वेदों में इस सम्बन्ध में अनेको उपाय बताए गये हैं। उनमें से एक उपाय अयास्यप्राण में मन व इन्द्रियों आदि को केन्द्रित करने का है, जो कि इस औपनिषदिक प्रकरण में बताया गया है। पर सामान्य रूप मे यह कह सकते है कि जब मनुष्य ऋषि पदवी को प्राप्त करता है, ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी बनता है, उस समय ये इन्द्रिया दिव्य शक्ति-सम्पन्न बनती हैं। मन्त्र में आता है--

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम् ।

अथर्व २. ३५ ४।

जो घोर ऋषि है उनको नमस्कार है क्योंकि

इनकी चक्षु और मन सत्य होता है।

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ् नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ।

अथर्व ५ १८ ८।

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो
यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा ।
अनुहाय तपसा मन्युना
चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ।।

अथर्व ५ १८. ९।

ब्राह्मण के जिस धनुष में जीभ डोरी है उच्चारित शब्द बाण-दण्ड होता है। नाडियां बाणाग्र होते हैं जो तप से बुझे होते है । देवों से प्रेरित ऐसे उस हृदय-बल रूपी धनुष से ब्राह्मण देवद्रोही को बीध देता है।

इस हृद्बल रूपी धनुष वाले और इन तपः तीक्ष्ण बाणों वाले ये ब्राह्मण जिस बाणसमूह को

छोड़ते हैं, वह कभी चूकता नहीं। तप और मन्यु से पीछा करके वे इस देवपीयु को दूर से ही भेद देते हैं।

सप्तहोताओं का द्विविध यज्ञ

हम पूर्व में यह विचार अभिव्यक्त कर चुके हैं कि अयास्यप्राण द्वारा मनुष्य शरीर में सप्तहोता (सप्तेन्द्रिय) सम्बन्धी एक यज्ञ चल रहा है। इस यज्ञ को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। इस का एक भाग मस्तिष्क के द्रवकूपों (Ventricles) में विद्यमान ब्रह्मवाक् से सप्तेन्द्रिय केन्द्रों (सप्तशीर्षण्यधीः) ऋ.१०।६७।१ तक है, जिसे कि हम देवयज्ञ कह सकते हैं। और दूसरा विभाग सप्तेन्द्रिय केन्द्रों से लेकर इन्द्रियगोलकों और इन्द्रिय प्रान्तों (Sensory-organs, End-organs) तक विस्तृत हो रहा है। यह दूसरा यज्ञ-मानव-यज्ञ है। ये दोनों यज्ञ सोमयज्ञ के अन्तर्गत हैं। सप्तहोताओं द्वारा किए जाते हुए सोम सम्बन्धी इस द्विविधयज्ञ का आलकारिक वर्णन शास्त्रों में अनेक प्रकार से प्रस्तुत हुआ है। जहां शास्त्रों में सप्तहोताओं के अहभाग का वर्णन आया है, वहां

एक स्थल पर इस द्विविध यज्ञ का सकेत मिलता है जिसका आध्यात्मिक भाव इस प्रकार है।

अर्थात् शरीर१ में सप्तहोता सम्बन्धी देवतन्तु और मानुषतन्तु हैं। ये दोनों प्रकार के तन्तुसमुदाय विच्छिन्न नही होने चाहिये। सिर रूपी द्युलोक को नमस्कार है और पृथिवी समकक्ष शरीर के अधोभाग को नमस्कार है।

शरीर में देवयज्ञ (देवतन्तु) का विस्तार ब्रह्मवाक् सम्बन्धी द्रवकूपों (Ventricles) से ले कर इन्द्रियकेन्द्रों तक है। और मानव-यज्ञ (मानुष-तन्तु) का विस्तार इन्द्रियकेन्द्रों से लेकर शरीर के अधोभाग तक है। इस प्रकार यह द्विविध यज्ञ शरीर में निरन्तर चालू रहता है। यह किस प्रकार सहायक होता है इस का शास्त्रीय वर्णन अब हम प्रस्तुत करते हैं।

वे २इन्द्रियदेव युद्ध में आसुरी शक्ति पर

---

१. मा दैव्यस्तन्तुश्छेदि मा मानुष्यः। नमो दिवे नमः पृथिव्यै स्वाहा। तै. आ. ३।५, मै.सं. १।६।१-४ काठक सं.६।६, कपिष्ठल ८।१२।

२. ते देवा असुर्रैविजित्य सुवर्गं लोकमायन्। ते

विजय प्राप्त कर स्वर्गलोक (मस्तिष्क) में जा पहुंचे। अर्थात् इन्द्रियां निष्पाप हो मस्तिष्क में जा केन्द्रित हुईं। वहां रहती हुईं वे इन्द्रियां बाह्य संसार के सम्पर्क म होने से क्षुधा से पीड़ित हुईं और कहने लगी कि भूलोक (शरीर का अधोभाग) की हवि से ही हम जीवित रहती हैं। अतः जीवन-यापन के लिए हमें हवि अवश्य ग्रहण करनी चाहिये। इस प्रकार परस्पर विचार-विनिमय द्वारा उन्होंने सप्तहोता यज्ञ की रचना कर अयास्य आंगिरस को भूलोक की ओर भेजा और कहा कि इस सप्तहोता यज्ञ से पहले भूलोक को समर्थ व शक्तिशाली बनाओ। अर्थात् शरीर में दिव्यता के

अमुष्मिन् लोके व्यक्षुध्यन्। तेऽब्रुवन् अमुतः प्रदान वा उपजिजीविमेति। ते सप्तहोतारं यज्ञ विधायायास्यमांगिरसं प्राहिण्वन्। एतेनामुत्र कल्पयेत। तस्य वा इय क्लृप्तिः यदिदं किंच। य एवं वेद कल्पतेऽस्मै। स वा अयं मनुष्येषु यज्ञः सप्तहोता। अमुत्र सद्भ्यो देवेभ्यो हव्यं वहति। य एवं वेद। उपैनं यज्ञो नमति। तै. ब्रा.२।३।७।३-४।

अवतरण के लिए सर्वप्रथम आधारभूत शरीर समर्थ होना चाहिये। यह सप्तहोता यज्ञ ही मनुष्ययज्ञ कहलाता है। इस यज्ञ से मस्तिष्क में विद्यमान देवशक्तियों को शरीर के अन्य भागों द्वारा गृहीत ज्ञान हवि रूप में पहुचता रहता है। उपर्युक्त कण्डिका की यह एक आध्यात्मिक व्याख्या है अन्य व्याख्यायें भी हो सकती हैं। उपर्युक्त व्याख्या की पुष्टि में वेद का यह वचन दर्शनीय है।

अध्वर्युभिः पचभि सप्तविप्राः प्रियं रक्षन्ते निहितं पद वे ऋ ३।७।७ (पचभिः अध्वर्युभिः) इन पांच प्राणवृत्तिरूपी अध्वर्युओं द्वारा ये (सप्त-विप्राः) सप्तेन्द्रियरूपी सात विप्र (वे:) गति के (निहित प्रिय पदं) निहित प्रिय पद को (रक्षन्ते) सदा रक्षा करते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र में पञ्च अध्वर्यु पञ्च प्राणवृत्ति-रूप अयास्य ही हैं यहां मन्त्र में इन पच प्राणवृत्तियों द्वारा ज्ञानप्राप्ति का वर्णन है।

इन्द्रियों की एकाग्रता व पकड़ (ग्रह)

अब हम इस सम्बन्ध में भी कुछ विचार प्रकट करना उपयुक्त समझते हैं कि शरीर व बाह्य

विषयों में पहुंची हुई इन्द्रियों को सब ओर से किस प्रकार समेटा गया और मस्तिष्क में केन्द्रित व एकाग्र कर वहीं पकड़े रखा। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि जितना अधिक इन्द्रियों का केन्द्रीयकरण होगा, एकाग्रता उतनी ही घनीभूत होगी। और ध्यान भी उतना ही श्रेष्ठतर व उच्चतर होता जायेगा। परन्तु समस्या यह है कि इन्द्रियां पकड़ में नहीं आती। ध्यानावस्था के समय इन को पकड़ कर हम केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं, पर होता यह है कि जिस इन्द्रिय को अवसर मिलता है, वही बाहिर निकल भागती है। इस लिए ध्यान के समय मनुष्यों के समक्ष जो सब से अधिक कठिनाई है वह यही कि इन्द्रियां एकाग्र नहीं हो पाती। अतः विचारणीय यह है कि इन्द्रियों को पकड़ने व एकाग्र करने का साधन क्या हैं? इन इन्द्रियों को एकत्र सग्रहीत कर रखने वाले साधनों को शास्त्रों में 'ग्रह' संज्ञा से कहा जाता है अर्थात् अमुक साधन इन्द्रियों के ग्रह, ग्रहण करने, पकड़ने व एक स्थल पर संगृहीत कर रखने वाले साधन ग्रह नाम से कहे जाते हैं जैसा कहा भी है—

ग्रहान् गृहीत्वा सप्तहोतारं जुहोति ।
इन्द्रियं वै सप्तहोता इन्द्रियमेवात्मन् धत्ते ।।
तै. ब्रा. २।२।८

अर्थात् होता व्यक्ति ग्रहों को लेकर सप्तहोता यज्ञ को रचता है। इन्द्रियां ही सप्तहोता हैं और इस सप्तहोता यज्ञ द्वारा इन्द्रियों को सिर स्थानीय आत्मा में ला धरता है। अथवा 'आत्मन् धत्ते' का यह भाव भी हो सकता है कि उन्हें अपने २ केन्द्रों में ला रखता है। ये आत्मस्थ इन्द्रियाँ बाह्य विषयों में भाग न जावें, इस का उपाय शास्त्रकारों ने 'ग्रह' नामक साधनों से दर्शाया है। उन में एक साधन तैत्तिरीय ब्राह्मण[१] में इस भाँति निर्दिष्ट

---

१. सोऽकामयत सौम्यमध्वरं सृजेयेति। स एतं सप्तहोतारमपश्यत्। तं मनसानुद्रुत्याहवनीयेऽजुहोत्। ततो वै स सौम्यमध्वरमसृजत। सोऽस्मात् सृष्टोऽपाक्रामत्। तं ग्रहेणागृह्णात् तद् ग्रहस्य ग्रहत्वम्। दीक्षिष्यमाणः। सप्तहोतारं मनसानुद्रुत्याहवनीये जुहुयात्। सौम्यमेवाध्वरं सृष्ट्वारभ्य प्रतनुते। ग्रहो भवति सौम्यस्याध्वरस्य सृष्टस्य धृत्यै। तै. ब्रा. २।२।२।४-५।

हुआ है ।

सोमयज्ञ और सप्तहोता—सोमाहुति से निष्पाप बने इस सप्तहोता सम्बन्धी यज्ञ की उत्पत्ति के लिए यह किया जाता है कि 'सप्तहोतारं मनसाऽनुदृत्याहवनीये जुहुयात्' अर्थात् सप्तहोता इन्द्रियों को मन द्वारा निरुद्ध कर उन की सिर (आहवनीय) में आहुति देते हैं । इस से मन सहित इन्द्रियां सिर में एकीभाव को प्राप्त हो केन्द्रित हो जाती हैं । आहवनीय सिर को कहते हैं । श. प १।३।३।१२ में जहां पुरुषयज्ञ का वर्णन चला है, वहाँ सिर को आहवनीय कहा गया है । यहां भी पुरुष यज्ञ के अन्तर्गत सप्तहोता सम्बन्धी ऐन्द्रियिक यज्ञ चल रहा है । अतः इस प्रकरण में भी आहवनीय से सिर का ग्रहण किया जाना स्वाभाविक है । सिर में इन्द्रियों की आहुति देने का भाव यह है कि इन्द्रियों व इन्द्रिय-विषयों की पूर्ण समाप्ति होना । इस अवस्था में इन्द्रिय सम्बन्धी किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता । 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' की अवस्था पैदा हो जाती है। परन्तु यह अवस्था दीर्घकाल तक स्थायी नहीं रहती । इसी बात को ब्राह्मण की आलंकारिक

भाषा में इस भांति चित्रित किया कि 'सोऽस्मात् सृष्टोऽपाक्रामत्' वह सोमाहुत यज्ञ उत्पन्न तो हुआ पर स्वल्पकाल के अनन्तर ही भाग खड़ा हुआ। अब उसे किस प्रकार पकड़ा जाये इस का उपाय ब्राह्मणकार ने यह बताया कि 'सौम्यमध्वर सृष्ट्वा आरभ्य प्रतनुते' सोम सम्बन्धी यज्ञ को पहले उत्पन्न किया जाता है और फिर आरम्भ करके चहुं ओर उसे फैलाया जाता है। यही उस का ग्रह है अर्थात् इन्द्रियां इस उपाय से पकड़ी जाती हैं और विषयों में नहीं जा पातीं। अब प्रश्न यह है कि सोमाहुत अर्थात् सोमयज्ञ क्या है ? उस का उत्पन्न होना, आरम्भ होना और फैल जाना इत्यादि का क्या भाव है ? संक्षेप में इन सब के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि शरीर में सप्तहोताओं से सम्बन्ध रखने वाला सोमयज्ञ मस्तिष्क में होता है। इन्द्रियां मस्तिष्क से चल कर अपने अपने विषयों के साथ सम्पर्क करती हैं तो सोमयज्ञ हो रहा होता है। इन्द्रियों में विद्यमान द्रवपदार्थ सोम कहलाता है। 'अात् सोम इन्द्रियो रसः' यह इन्द्रिय रस सोम है। इस इन्द्रिय-रस (सोम-रस) का क्रियाशील व गतिशील होना ही सोम यज्ञ का उत्पन्न होना है,

आरम्भ होना है। इन्द्रियों में आवरण के विनाश के लिए और दिव्यता की उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय रस अर्थात् सोम-रस को गतिशील व क्रियाशील तो करे, दूसरे शब्दों में इन्द्रिय का विषय के साथ सम्पर्क तो करे पर इन्द्रिय को उस वस्तु में केन्द्रित न कर चहु ओर फैला देवे। इसी को 'आरभ्य प्रतनुते'–आरम्भ कर के फैला देवे–इन शब्दों में कहा। इस से वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्पर्क तो होगा पर वस्तु का ग्रहण नहीं होगा। एक प्रकार से वस्तु के साथ 'एकटक' की अवस्था पैदा हो जायेगी। चक्षु सहित सभी इन्द्रियां उस वस्तु में बन्ध जायेगी। अन्य विषयों में वे जायेंगी नहीं और एकाग्रता उत्पन्न हो जायेगी। सोमयज्ञ को उत्पन्न करके चहुं ओर फ़ैलाने का दूसरा भाव अन्तर्दृष्टि से है। वह इस प्रकार है कि मन व इन्द्रियों सहित सिर में पहुच कर ध्यान को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित न कर मस्तिष्क में चहुं ओर फैला देवे। इस से मस्तिष्क में रहते हुए भी ऐन्द्रियिक केन्द्रों से सम्बन्ध न रहने से तद्विषयक अच्छे व बुरे विचार आदि का उद्बोधन न होगा। इस प्रकार सोमयज्ञ को फैलाने का दूसरा उपाय

अन्तर्दृष्टि से है। बाह्य वस्तु में इन्द्रिय किरण को फैला कर एक टक देखना त्राटक का स्वरूप है और योग दर्शन की भाषा में 'संयम' व स्वरूप-शून्य व अर्थमात्र निर्भास की स्थिति है। इस प्रकार इन दोनों रूपों में मस्तिष्क में सोमयज्ञ तो हो रहा है पर परिणाम कुछ नहीं पैदा होता और ना ही सोमयज्ञ पैदा होता है।

अयास्य के द्वारा भक्षित अन्न में अन्य देवों का भाग

उपनिषदों में अयास्यप्राण द्वारा अन्न के भक्षण का वर्णन आता है। और यह भी आता है कि इस अयास्य द्वारा भक्षित अन्न में अन्य ऐन्द्रियिक देव भी हिस्सा बंटाते हैं। अब विचारणीय यह है कि वह अन्न क्या है ? और इन्द्रिय देवों के उस अन्न में हिस्सा बटाने का क्या फल है ? इस सम्बन्ध में बृहदारण्यकोपनिषत् में एक कण्डिका आती है जिस का भाव यह है।

[१]प्राण ने अपने लिए भक्षणीय अन्न का गान

१. अथात्मनेऽन्नाद्यमागायत् यद्धि किंचान्नमद्यते

किया। और जो भी अन्नभक्षण किया जाता है, वह इसी प्राण द्वारा भक्षण किया जाता है। अन्य इन्द्रियां तो अन्नभक्षण में इस के उपकरणमात्र बनती हैं। भक्षण किया गया यह अन्न इस प्राण में ही जा कर प्रतिष्ठित होता है क्योंकि यह प्राण ही सब का सर्वोत्तम आयतन है। (प्राणायतन-मुत्तमम्) इसी प्राण से अन्य इन्द्रियां आदि अपना-अपना अन्न का भाग ग्रहण करती हैं। इस तथ्य को उपनिषद् में इस प्रकार खोला गया।

१देवों ने अयास्य से कहा कि इस ससार में

तेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति।

बृ. उ. १।३।१७।

१. ते देवा अब्रुवन् एतावद् वा इदं सर्वं यदन्न तदात्मन आगासीः, अनु नोऽस्मिन् अन्ने आभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तं समन्तं परिण्यविशन्त। तस्मात् यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्ति। एवं ह्वा एनं स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानां श्रेष्ठः पुर एता भवति, अन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविद स्वेषु प्रति प्रतिबुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवति।

जितना भी अन्न है, उस सब का तुम अपने लिए ही गान करते हो इसमें हमें भी तो हिस्सा बंटाओ। इस पर अयास्य ने कहा कि तुम सब मुझमें चहुं ओर से प्रवेश कर जावो यह सुन सब देव इन्द्रियां चारों ओर से अयास्य में प्रविष्ट हो गई और अन्न भक्षण कर तृप्त होने लगी। यह प्राण इन का भर्ता कहलाया और ये इन्द्रिया भार्या कहलायी। इस से यह परिणाम निकला कि इस प्राण के भर्तृत्व अर्थात् भरण-पोषण की शक्ति को जानने वाले विद्वान् का जो प्रतिस्पर्धी होता है वह अपने आश्रितों के भरण पोषण में समर्थ नही हो सकता। इस लिए अन्यों के भरण-पोषण की शक्ति रखने वाले की स्पर्धा न कर उसके अनुकूल रहने का सदा प्रयत्न करना चाहिये। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नौकरों को अपने स्वामी के अनुकूल रहना चाहिये। यहां पर इन्द्रिय देवों के अयास्य-प्राण में प्रवेश करने का भाव यह है कि जब वे

अथ य एवैतमनु भवति यो वैतमनु भर्यान् बुभूर्षति । सहैवाल भार्येभ्यो भवति ।

। बृ० उ० १।३।१८।

अपना पार्थक्य व अस्तित्व मिटा कर सिरस्थ अयास्यप्राण में लीन हो जाती हैं तो प्राण में विद्यमान, स्थूल, सूक्ष्म, दिव्य व अदिव्य सब प्रकार का अन्न उन्हें प्राप्त होता है। वह दिव्य अन्न क्या है ? और वह किस प्रकार इन इन्द्रियों को प्राप्त होता है। इस का विशद वर्णन जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में भी आता है। वह प्रकरण अब हम यहाँ दिखाते हैं।

१देवों ने अयास्यप्राण से कहा कि तू केवल अपने लिए ही अन्न का गान करता है। हमें भी तो इस में हिस्सा बंटा। प्राण का यह अन्न निर्दोष व निर्विकार है इस लिए देवों ने अयास्य से अन्न-भक्षण की इच्छा प्रकट की। प्राण ने इन से कहा कि यदि तुम अन्न-भक्षण करना चाहते हो तो मुझ में प्रवेश कर जाओ इस पर देवों ने कहा कि पहले तुम हमें खाली (आकाश) करो। प्राण ने ऐसा ही

१. तं देवा अब्रुवन् केवल वा आत्मनेऽन्नाद्यमागासीः अनु न एतस्मिन्नन्नाद्य आ भज। एतदस्यानामयत्वमस्तीति तं वै प्रविशतेति। स वा आकाशान् कुरुष्वेति। स इमान् प्राणान्

किया अर्थात् सब को खाली कर दिया, कोई भी विषय-विकार उन में न रहा। क्योंकि प्राण ही विषयों को ग्रहण करता है। उस ने विषय ग्रहण करने बन्द कर दिये। इस से इन्द्रियां विषय रहित हो गईं। अब इस अवस्था मे अग्नि वाक् बन कर प्राण में प्रविष्ट हुई, चन्द्रमा मन बन कर प्रविष्ट हुआ, सूर्य चक्षु बन कर, दिशाएं श्रोत्र बन कर और वायु प्राण बन कर प्रविष्ट हुए। और अयास्य प्राण मे स्थित हो अन्न का भक्षण करने लगे।

अब प्रश्न यह है कि वह अन्न क्या है? इस सम्बन्ध मे हम यदि औपनिषदिक सन्दर्भों और वेदमन्त्रों के वर्णनों का समन्वय करें तो हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि वह अन्न सोम है। इसी सोम अन्न को यह अयास्य प्राण भक्षण करता है, वहन करता है और इन्द्रियों व शारीरिक अन्य

आकाशान् अकुरुत। त वागेव भूत्वाऽग्निः प्राविशत्। मनो भूत्वा चन्द्रमाश्चक्षुर्भूत्वाऽऽदित्यः श्रोत्रम्भूत्वा दिशः प्राणो भूत्वा वायुः।

जै. उ. २।४।२।१०-१२।

घटकों को प्राप्त कराता है। देवांश रूप में शरीर में विद्यमान ये इन्द्रियां इस पवमान सोम को भक्षण करने से अपने पूर्णरूप अर्थात् देवरूप को प्राप्त हो जाती हैं। यह सोमरूपी अन्न और यह अयास्य प्राण परस्पर मिश्रित हो एकाकार हो जाते हैं। इस मिश्रित व तदाकार अवस्था में यह अयास्य आंगिरस का कार्य करता है। इस आंगिरस रूप अयास्य में ये इन्द्रिय देव अपने आप को तल्लीन कर लेते हैं। वह इस प्रकार कि जब वे अपनी पृथक् ज्ञानवृत्तियो व अपने वैविध्य को विनष्ट कर अपने २ केन्द्रों से भी ऊपर मस्तिष्क में जा पहुंचती हैं और केवल चेतनामात्र अवशिष्ट रहती है, जिस को कि 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' की अवस्था कहते हैं, तब ये प्राण में लीन हो सोमपान कर रही होती हैं। सोमपान से ये निर्मल बनती हैं। आवरण विनष्ट होता है और दिव्यता का अवतरण होता है।

ऋषि दधीचि

दधीचि की अस्थियां

दधीचि अर्थात् दध्यङ् को अथर्वा का पुत्र माना जाता है। वैदिक प्रमाणों के आधार पर हम यह निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि दधीचि ऋषि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है और इसका प्रतीयमान वैयक्तिक-रूप वेदों में अत्यन्त छिपा है। पर हां, शाखा संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, पुराणों व महाभारत आदि महाकाव्यों में उसका व्यक्तित्व शनैः शनैः विकसित होता चला गया है। ऋषि आख्यानप्रिय होते हैं, इस लिये उन्होंने दध्यङ् सम्बन्धी रहस्य को व्यक्तित्व का चोला पहना कर एक कथानक का रूप दे दिया है। पर इससे दधीचि एक ऐतिहासिक व्यक्ति है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण रखने वाले विद्वान् भी इसे निर्विवाद रूप में ऐतिहासिक व्यक्ति न मान कर पौराणिक संतों में एक सन्त (Mythical sage) मानते हैं। अब हम वैदिक साहित्य के आधार पर इसके स्वरूप का स्पष्टी-

करण करने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि दधीचि और दध्यङ् दोनों एक ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। इस लेख में कहीं दधीचि का प्रयोग हुआ है और कहीं दध्यङ् लिखा गया है।

व्युत्पत्तिः—दध्यङ् शब्द की व्युत्पत्तियां अनेक की जाती हैं। उदहरणार्थ कुछ निम्न प्रकार हैं:—

१–दधि धारकमञ्चतीति । वाचस्पत्यकोष।

अर्थात् धारण करने वाले व कराने वाले को प्राप्त करता कराता व जताता है।

२–प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा। निरु० १२ ३३

ध्यान के प्रति गया हुआ, ध्यान में लवलीन अथवा इसमें ध्यान पहुंचा हुआ है।

३–दधीन् विद्याधर्मधारकान् अञ्चति प्राप्नोति सः। दयानन्द।

विद्या व धर्म के धारण करने वालों को जो प्राप्त होता है। यह अन्तिम व्युत्पत्ति स्वामी दयानन्द की है। इसी भांति और भी कई व्युत्पत्तियाँ स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में प्रदर्शित की हैं।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि इन व्युत्पत्तियों के आधार पर दध्यङ् कौन है और उसका क्या स्वरूप निर्धारित होता है ?

शतपथ ब्राह्मण से हमें यह पता चलता है कि दध्यङ्ऋषि वाक् है। वहां आता है कि हे अग्नि ! तुझे अथर्वा का पुत्र दध्यङ्ऋषि प्रदीप्त करता है। यह दध्यङ् ऋषि कौन है उत्तर में कहा वाक् है। पापरूपी वृत्र को हनन करने वाले उस पुरन्दर को यह दध्यङ् प्रदीप्त किया करता है। मनुष्य का पाप ही वृत्र है और यह पुरन्दर उस पाप का विनाश करने वाला है। १ इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त प्रकरण में दध्यङ् ऋषि को वाक् माना गया है। परन्तु यहां फिर प्रश्न पैदा होता है कि कौन सी वाक् का नाम दध्यङ् है ?

---

१. तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः। पुत्र ईधे अथर्वण इति वाग् वै दध्यङ्ङाथर्वणः स एन तत ऐन्द्ध वृत्रहण पुरन्दरमिति पाप्मा वै वृत्रः पाप्महनं पुरन्दरमित्येतत्।

श० ब्रा० ६।४।२।३।

इस सम्बन्ध में निरुक्त में प्रतिपादित व्युत्पत्ति के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ध्यान में सहायक व ध्यान में लवलीन करने वाली वाक् ही दध्यङ् ऋषि है। यहां दध्यङ् से वाक् के स्थूल रूप वैखरी से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म वाक् तक का ग्रहण करना अभीष्ट है। वैखरी वाक् दध्यङ् का स्थूल रूप है। यह स्थूल वाक् भी ध्यान में सहायक होती है। यह हम 'वैदिक अध्यात्म विद्या' पुस्तक के 'स्वर में शक्तियां' नामक प्रकरण में प्रदर्शित कर चुके हैं। स्वर द्वारा चित्त को एकाग्र करना लवलीन करना (**स्वरेण सँल्लयेच्चित्तम्**) दध्यङ् का स्थूल रूप है। इस का सूक्ष्म रूप सूक्ष्म वाक् है जो कि चेतना रूप है। चेतना मात्र को एक स्थान पर केन्द्रित कर देना दध्यङ् का सूक्ष्म रूप है। इस लिये वाणी से लेकर सूक्ष्म चेतना तक दध्यङ् का क्षेत्र है ऐसा हमें समझना चाहिये। साथ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दध्यङ् की सब व्युत्पत्तियों में ध्यान का स्थान अवश्य है। विद्या प्राप्ति तथा सूक्ष्म-तत्त्वों के धारण में वाक् ही मुख्यसाधन है और

तद्विषय ग्रहण के लिये ध्यान में सहायक बनकर यह वाक् उस विषय की प्राप्ति में उत्कृष्ट साधन बनती है। दध्यङ् ऋषि वाक् है इस की पुष्टि तैत्तिरीय ब्राह्मण से भी होती है। वहां '**इन्द्रो दधीचो अस्थभिः**' मन्त्र का विनियोग दर्शाते हुए दधीचि की अस्थिरूप इष्टकाओं को पंचमी चिति में रखने व चिनने का विधान किया गया है। यह पंचमी चिति ग्रीवा है (श० ब्रा० ८।७।४।२१।) और ग्रीवा में ही वाक् का स्थान है। इस दृष्टि से हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि दध्यङ् वाक् है। अब हम यह दर्शाते हैं कि इस दध्यङ् नामक वाक् को आथर्वण क्यों कहा जाता है?

दध्यङ् आथर्वण

दध्यङ् ऋषि को आथर्वण कहा जाता है और आंगिरस भी उसे कहा गया है। दध्यङ् सम्बन्धी शतपथ ब्राह्मण (६।४।२।३) के प्रकरण में अथर्वा नाम प्राण का है। तैत्तिरीय संहिता (५। ६।६।३) में इसे प्रजापति माना है। इन दोनों का समन्वय करते हुए हम यह कह सकते हैं कि यहाँ हमें प्राणों के अथर्वा रूप व प्रजापति रूप

दोनों का ग्रहण करना चाहिये । प्राण का अथर्वा (न+थर्वा) रूप निश्चल नीरव व निष्कम्प अवस्था को द्योतित कर रहा है और प्रजापति रूप प्रजनन को। इसका भाव यह हुआ कि वाक् के दध्यङ् अर्थात् ध्यान में सहायक बनने से पूर्व मनुष्य के प्राण (अथर्वा) निश्चल नीरव व निष्कम्प हो जाने चाहियें और उनमें इतनी सामर्थ्य पैदा हो जानी चाहिये कि वे प्रजनन अर्थात् दिव्य उत्पत्ति कर सके ।

दूसरी अवस्था आंगिरस है। अंगिरा उस प्राणाग्नि को कहते हैं जो अंगों का रस बन चुकी है। इस प्रकार वाक् के दध्यङ् बनने से पूर्व मनुष्य में ये सब अवस्थाए पैदा हो जानी चाहिये । अत. दध्यङ् का स्वरूप इस प्रकार हुआ कि प्राण जब सुस्थिर, दृढ़, निश्चल, नीरव व निष्कम्प हो जाते हैं, प्राणाग्नि खूब प्रज्वलित होकर अगों का रस बन जाती है तब प्रजननोन्मुख प्राण वाक् को दध्यङ् का रूप देते हैं अर्थात् उस समय ध्यान में स्थित मनुष्य वाक् से मधुर व मन्द्र ध्वनि करता है,

इससे समग्र चेतना एकीभूत हो जाती है । यही वाक् की दध्यङ् अवस्था है । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि ध्यान में बैठने से पूर्व मनुष्य को अपने प्राणों को स्थिर निश्चल नीरव व निष्कम्प बना लेना चाहिये । यह हो जाने पर ध्यान प्रारम्भ करे । ध्यान करते हुए मुख से मधुर व मन्द्र स्वर निकाले । यह प्रक्रिया अपना लेने से समग्र चेतना एकीभूत हो जाती है और जिस स्थान पर केन्द्रित करना चाहें वहां आसानी से केन्द्रित हो जाती है। ध्यान की तीव्रता में यही मन्द्र ध्वनि वाली वाक् शनै. शनै. समाप्त हो जाती है और आन्तरिक वाक् इसका स्थान ले लेती है। इस प्रकार यह वाक् का दध्यङ् रूप है। यह वाक् ग्रीवा से ऊर्ध्व में जाती है और मस्तिष्क में पहुँचकर समाप्त हो जाती है । केवल चेतना मात्र अवशिष्ट रहती है, यही दध्यङ् का स्वर्गगमन है ।

दधीचि की अस्थियों से इन्द्र ने वज्र बनाया—

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः ।

जघान नवतीर्नव ।। ऋ० १।८४।१३

इस मन्त्र के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों, महाभारत व पुराणों आदि में अनेकों कथानक आते हैं जिनका संक्षिप्त सार यह है कि इन्द्र ने दधीचि की अस्थियों से वज्र बनाकर वृत्रादि असुरों का संहार किया। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है--

(अप्रतिष्कुतः) प्रतिद्वन्दी से रहित इन्द्र ने (दधीचः अस्थभिः) दधीचि की अस्थियों से (नवतीर्नव) ६६ या ८१० (वृत्राणि) चेतना को आवृत करने वाले वृत्रों अर्थात् आवरणों का (जघान) हनन किया।

यह मन्त्र का सामान्य अर्थ है और यही मन्त्र सब कथानकों का मूल आधार है। अब हम इस मन्त्र पर तैत्तिरीय संहिता का प्रकरण तथा उसपर भट्ट भास्कर मिश्र की व्याख्या प्रदर्शित करते हैं। व्याख्या का संक्षिप्त सार इस प्रकार है-"प्रजापति अथर्वा अग्नि रूप है और तदुत्पन्न दध्यङ् भी अग्नि रूप है। इसे वाक् अग्नि भी कहते हैं। इस दध्यङ् नामक वाक् अग्नि से समन्वित व परिपुष्ट प्रतिदिन का ध्यान एक इकाई है जिसे कि शास्त्रों में इष्टका कहा है। ये इष्टकाएँ ही अस्थियां कही गई हैं। अनेकों इष्टकाओं व अस्थिओं का चयन

करते-करते समग्र आत्मीय अवयवों सहित यह पुरुष चित्य हो जाता है।" १ ये अस्थिया जिन्हे कि दध्यङ् अग्नि की इष्टकाएं कहा है ये वाक् से उपबृंहित प्रतिदिन का ध्यान है। प्रतिदिन के ध्यान रूपी इष्टका को हम चिनते जाये तो कालान्तर में जाकर इन इष्टकाओंका एक महल खड़ा हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि सग्रह होते-होते ध्यान अति तीव्र व उग्र हो जाता है। एक प्रकार से वज्र का रूप धारण कर लेता है। यही दधीचि की अस्थियां हैं और यही उसका शरीर है और यही इन्द्र का वज्र बन जाता है। कहा भी है "**शरीरं वा एतदग्नेर्यच्चित्य आत्मा**" यह चित्य आत्मा अग्नि का शरीर है । चित्य आत्मा जिसमें कि अग्नि का चयन किया गया है अग्नि चयन वाले व्यक्ति के शरीर से तेजस्विता प्रकट होती है, वह अग्नि का पुञ्ज बन जाता है।

---

१. प्रजापतिर्वाग्रथर्वाग्निरेव दध्यङ्ङाथर्वणस्तस्येष्टकास्थान्येत ह तद्वाव ऋषिरभ्यनूवाचेन्द्रो दधीचोऽस्थभिरिति यदिष्टकाभिरग्निं चिनो-

हम ऊपर यह संकेत कर चुके हैं कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के सायण भाष्य में इस मन्त्र का विनियोग पञ्चमी चिति में किया गया है। और पञ्चमी चिति शरीर में ग्रीवा का स्थान है। अतः उस प्रकरण को भी हम यहां उद्धृत कर देते हैं। वहां आता है कि "इस अष्टम अनुवाक में अथर्व-शिर नामक दश इष्टकाओं के वे मन्त्र प्रदर्शित किये जाते हैं और वे दश इष्टकाएँ "प्रच्या त्वा दिशा सादयामि" मन्त्रों में प्रदर्शित इष्टकाओं से ऊर्ध्व पञ्चमी चिति के क्षेत्र मे रखी जाती हैं।

ति सात्मानमेवाग्नि चिनुते।

तै० सं० ५।६।६।३

इन्द्रो दधीचोऽस्थिभिरिति श्रुतिविशेषा-नुरोधेनाग्नेरस्थित्वेनेष्टका निरूप्यन्ते। प्रजापतिरथर्वा तत्पुरुष आथर्वणो दध्यङ् नाम सोऽग्निरेव तस्यास्थीनि इष्टका अभवन्...... तस्मादिष्टकाभिश्चयनात् सात्माऽग्निश्चितो भवति आत्मीयावयवसहित इत्यर्थः। भट्ट भास्कर मिश्र।

अर्थात् 'इन्द्रो दधीचो अस्थभिः' आदि मन्त्रों द्वारा रक्खी जाने वाली इष्टकाएं (ईटे) पञ्चमी चिति के क्षेत्र में रखी जाती हैं।१ शरीर मे पञ्चमी चिति ग्रीवा कही गई है (श० ब्रा० ८।४।७।२१)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस अष्टम अनुवाक मे पठित 'इन्द्रो दधीचो' आदि मन्त्रों का विनियोग मनुष्य की ग्रीवा के क्षेत्र मे होता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि दधीचि ऋषि का निवास ग्रीवा में है। ग्रीवा मे वाक् का निवास है। अतः शतपथ ब्राह्मण का दधीचि को वाक् मानना अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों को भी अभिमत है। दध्यङ् वाक् सामान्य वाक् न होकर एक विशिष्ट वाक् है यह हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं।

---

१. अष्टमेऽथर्वशिरोऽभिधानानामिष्टकानां दशानां मन्त्रा उच्यन्ते ताश्चेष्टका. प्राच्या त्वा दिशा सादयामि-इत्येतै र्मन्त्रैरुपधेयाभ्य इष्टकाभ्य ऊर्ध्वं पञ्चम्यां चितावुपधेयाः। तत्र प्रथमामृचमाह इन्द्रो दधीचो अस्थभिः। तै० ब्रा० १।५।८ सायण भाष्य

अब प्रश्न यह है कि "इन्द्रो दधीचो" मन्त्र का भाव क्या है ? ६६ व ८१० वृत्र क्या हैं ? और दधीचि की अस्थियों से उन्हें कैसे हनन किया जाता है ? इन सब प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर यह है कि ज्ञानेन्द्रियों का अधिपति दिव्य मन (इन्द्र) है। मस्तिष्क में सैकड़ों विविध प्रकार के ज्ञान-केन्द्रों पर पड़े हुए आवरण वृत्र हैं। प्रतिदिन के ध्यान द्वारा एकीभूत हुई चेतना की इष्टकाएँ दधीचि की अस्थियाँ हैं। वाक् सवलित एकीभूत चेतना का प्रतिदिन का संग्रह होते-होते वह इतना विशाल व उग्र बन गया है कि उसे दधीचि का शरीर कह दे; प्रासाद कह दे या इन्द्र का वज्र कह दे बात एक ही है। वाक् सवलित ध्यान द्वारा एकाग्र चेतना रूपी अग्निमय वज्र का प्रहार मस्तिष्क के उन विविध केन्द्रों पर इन्द्र (दिव्य मन) द्वारा किया जाता है जिससे उन स्थानों का आवरण भस्म हो जाता है और दिव्य ज्ञान के केन्द्र सक्रिय हो जाते हैं। यही वृत्रों का इन्द्र द्वारा हनन है।

नवती नव

मन्त्र में वृत्रों की संख्या 'नवती नव' बतायी गई है। 'नवती नव' के ६६ व ८१० दोनों अर्थ

किये जाते हैं (९०+९=९९, ९०×९=८१०)। यह एक विचारणीय विषय है कि ९९ वृत्र माने जाये या ८१०। आधुनिक शारीर-क्रिया-विदो ने मस्तिष्क में ज्ञान केन्द्रों की सख्या १०० से ऊपर गिन ली है। कई शरीरविद् तो १०० सख्या से भी बहुत अधिक मानते हैं। अत हम यह कह सकते हैं कि मस्तिष्क में दिव्य ज्ञान के केन्द्रों को आवृत करने वाले प्रमुख वृत्र ९९ हो सकते हैं। और उन के अवान्तर भेद ८१० हो सकते हैं। पर यह एक खोज व अनुभूति का विषय है जिसका प्रत्यक्षीकरण योग की ऊची भूमिकाओं में ही सम्भव है।

ध्यान में लवलीन दधीचि व्यक्ति के रूप का दिग्दर्शन कराने वाला एक और मन्त्र है जो कि इस प्रकार है--

अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमाददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने॥

ऋ. १०।४८।२।

(अहं इन्द्रः) मैं इन्द्र (अथर्वणः) निश्चल नीरव अवस्था वाले ध्यान में लवलीन व्यक्ति के (वक्ष रोधः) वक्षस्थल को अवरुद्ध कर देता हू अर्थात् ध्यान की तीव्रता में श्वास प्रश्वास अवरुद्ध हो जाता है। (त्रिताय) मेधा में तीर्णतम व्यक्ति के लिए (अहे· अधि) अहि के अधिकार से अथवा अहि नामक आवरण से (गाः अजनयम्) ज्योतिमय किरणो को निकाल लाता हू। (मात-रिश्वने दधीचे) मातरिश्वा–ध्यान द्वारा हृदयरूपी अन्तरिक्ष में बढते जाने वाले–दधीचि के लिए (गोत्रा शिक्षन्) [ज्योतियो को छिपा रखने वाले मस्तिष्क सम्बन्धी] पर्वतों को छिन्न भिन्न करता हुआ (दस्युभ्यः नृम्ण परि आददे) दस्युओं–आसुरी शक्तियों से ज्योतिर्मय धन ले लेता हूं।

मन्त्र का भाव स्पष्ट है। इन्द्र दिव्य मन है। जिस समय मनुष्य अथर्वा बन ध्यान में बैठता है उस समय ध्यान की तीव्रता होने पर श्वास प्रश्वास स्वय अवरुद्ध हो जाया करता है। इसी तथ्य को 'रोधः वक्षः' शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। दूसरा कार्य यह बताया कि सिर में दिव्य ज्योतियों का भण्डार हैं, एक बुद्धि सूर्य है, परन्तु

उस की किरणों को 'अहि' नामक मेघ ने आवृत कर रखा है। उसी 'अहि' रूपी आवरण का भेदन कर ज्योतियों को बाहिर निकालना इस का काम है। तीसरा कार्य यह बताया कि दधीचि की मातरिश्वा अवस्था में सिर के पर्वतों को फोड़ कर वह इन्द्र दिव्य धन निकाल लाता है। 'मातरिश्वा' का अर्थ है अन्तरिक्ष में बढ़ने वाला वायु (मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति)। शरीर में हृदयरूपी अन्तरिक्ष मे बढने वाला प्राणदाता प्राणवायु है। ध्यानी व्यक्ति प्राणायाम आदि क्रियाओं द्वारा हृदय व मस्तिष्क के पर्वतो को छिन्न भिन्न किया करता है। गोत्रा मेघों व पर्वतों को कहते हैं। वह इस लिए कि ये गौओं व रश्मियों को छिपा कर रखने वाले हैं अथवा गोत्रा सामान्य पृथिवी को भी कहते हैं, इसमें दस्यु लोग धन छिपा देते हैं। शरीर में ये दस्यु आत्मा व दिव्य शक्तियों के विनाशक असुर हैं। इस प्रकार हमने संक्षेप में दधीचि और उस की अस्थियों के स्वरूप का निर्धारण किया। एक वाक्य में हम यह कह सकते हैं कि ध्यान में लवलीन वाक्-अग्नि अथवा वाक्-अग्नि से समन्वित ध्यान दधीचि है।

दधीचि द्वारा अश्वियों को मधुविद्या का दान

अश्वियो को मधुविद्या की प्राप्ति दधीचि ऋषि से हुई इस का सर्व प्रथम निर्देश वेद मन्त्रों में हुआ है। उदाहरणार्थ ऋ. १।११६।१२,११७। २२,११६।९ मन्त्र देखे जा सकते हैं। मधुविद्या के आदिस्रोत ये ही मन्त्र हैं, ऐसा हम कह सकते हैं। इन मन्त्रों को आधार बना कर अन्य शाखा संहिताओ, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराण व महाभारत आदि महाकाव्यों में मधुविद्या व प्रवर्ग्य विद्या की प्राप्ति का क्रमिक वर्णन खूब विस्तार से कथानको के रूप में हुआ है। इन कथानकों में कही २ वर्णन-भेद भी दृष्टिगोचर होता है। हमारे विचार में यह भिन्नता ही कथानकों के रहस्यों को स्पष्ट करने में सहायक हो सकती है। परन्तु सब कथानकों का पूर्ण समन्वय करना बहुत विस्तार की अपेक्षा रखता है। अत. हम यहां केवल संक्षेप में ही कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में आता है कि १यज्ञरूप

---

१. अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातः सवन रुद्रा माध्यन्दिन सवनमादित्यास्तृतीय-सवनम्। अग्निः प्रातः सवनमिन्द्रो माध्यन्दिन

विष्णु को देवों ने तीन भागों में विभक्त किया। किस देवता के पास यज्ञ का कौन सा भाग रहा। यह निम्न तालिका में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है।

विष्णु (यज्ञ)

१ प्रातः सवन	वसु	अग्नि	गायत्री
२ माध्यदिन सवन	रुद्र	इन्द्र	त्रिष्टुप्
३ तृतीय सवन	आदित्य	विश्वेदेव	जगती

सवनं विश्वेदेवास्तृतीयसवनम्। गायत्री प्रातः सवनं त्रिष्टुम्माध्यन्दिन सवन जगती तृतीय-सवनम्। तेनापशीर्ष्णा यज्ञेन देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तः चेरुः। दध्यङ् ह् वा आथर्वण एतं शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार यथा यथैतद् यज्ञस्य शिरः प्रति धीयते यथैतद् कृत्स्नो यज्ञो भवति। स हेन्द्रेणोक्त आस एतञ्चेदन्यस्मा अनुब्रूया-स्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति। तदु हाश्वि-नोरनुश्रुतमास। दध्यङ्ङु ह् वा आथर्वण एतं शुक्रमेत यज्ञ वेद यथा यथैतद् यज्ञस्य शिरः प्रति-धीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवतीति। तौ

इस प्रकार यज्ञ का विभाग कर वे देव यज्ञ द्वारा अर्चना करते हुए तथा श्रम करते हुए विचरने लगे। परन्तु जिस यज्ञ से वे यजन कर रहे थे वह सिर विहीन था। इस लिए उस यज्ञ द्वारा स्वर्गप्राप्ति आदि अभीष्ट की प्राप्ति व पूर्ति नही हो पा रही थी। दध्यङ् आथर्वण यज्ञ के उस शुक्र व

हैत्योचतु उपत्वा यावेति किमनुवक्ष्यमाणा-वित्येत शुक्रमेत यज्ञं यथा यथैतद् यज्ञस्य प्रति-धीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवतीति। स होवाच इन्द्रेण वा उक्तोऽस्म्येत चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति तस्माद् वै बिभेमि। यद्वै मे स शिरो न छिन्द्यान्न वामुपनेष्ये इति। तौ होचतु. आवां त्वा तस्मात् त्रास्यावहे इति कथम्मा त्रास्येथे इति। यदा ना उपनेष्यसेऽथ ते शिरश्छित्वाऽन्यत्रापनिधास्यावोऽथाश्वस्य शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्यावस्तेन नावनुवक्ष्यसि स यदा नावनुवक्ष्यसि अथ ते तदिन्द्रः शिरश्छेत्स्यत्यथ ते स्व शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्याव इति तथेति। तौ होपनिन्ये तौ यदोपनिन्येऽथास्य शिरश्छित्वाऽन्यत्रापनिदधतु रथाश्वस्य शिर

उस रूप को जानते थे कि जिस से यज्ञ का सिर जोडा जा सकता है और वह यज्ञ पूर्ण हो सकता है ? परन्तु इन्द्र ने इस ऋषि को यह चेतावनी दी हुई थी कि यदि यज्ञ के इस रहस्य को तुमने किसी अन्य पर प्रकट किया तो तुम्हारा सिर काट दूगा । अश्वी देवों ने यह सुन रखा था कि दध्यङ् आथर्वण यज्ञ के उस शुक्र को जानता है जिससे कि

आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुस्तेन हाभ्यामनूवाच स यदाभ्यामनूवाचाथास्य तदिन्द्रः शिरश्चिच्छेदाथास्य स्व शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुः। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णाप्रयदीमुवाचेत्ययतन्तदुवाचेति हैव तदुक्तम् । तन्न सर्वस्मा अनुब्रूयात् एनस्य हि तदथो नेन्म इन्द्रः शिरश्छिनददिति यो न्वेव ज्ञातस्तस्मै ब्रूयादथ यो अनूचानोऽथ योऽस्य प्रियः स्यान्नत्वेव सर्वस्मा इव । सवत्सरवासिनेऽनुब्रूयात् । एष वै सवत्सरो य एष तपत्येष प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति। तस्मात् सवत्सरवासिनेऽनुब्रूयात् ।

श. प. १४।१।१।१५-२७।

यज्ञ का शिर-सन्धान होता है। वे दोनों दध्यङ् ऋषि के पास आ कर बोले कि हम आप के शिष्य होना चाहते हैं। ऋषि बोले कि आप किस उद्देश्य को ले कर शिष्य होना चाहते हैं? उन दोनों ने उत्तर दिया कि हम यज्ञ के शुक्र अर्थात् यज्ञ के शिर सन्धान की शिक्षा आप से लेना चाहते हैं। इस पर दध्यङ् ऋषि ने इन्द्र का वह आदेश उन्हें कह सुनाया कि यदि यज्ञ सम्बन्धी उपर्युक्त रहस्य तुमने किसी और को बताया तो तुम्हारा सिर काट दूगा। उससे मुझे भय लगता है कि कही वह मेरा सिर न काट ले। अतः मैं आप को उपनीत न करूगा। वे दोनो बोले कि हम आप की उस से रक्षा करेगे। दध्यङ् ने पूछा कि आप कैसे मेरी रक्षा करेगे? उन्होंने उत्तर दिया कि जब आप हम दोनों को उपनीत कर लेंगे तब हम आप का सिर काट कर कही अन्यत्र रख आवेगे और अश्व का सिर ला कर लगा देगे। उस अश्व सिर से जब आप हमें पढाओगे तब इन्द्र आप के उस सिर का छेदन कर देंगे। तत्पश्चात् हम आप का निज सिर ला कर पुनः जोड़ देंगे। दध्यङ् ने तथास्तु कह उन्हें उपनीत किया और शिष्य बनाया। अश्वी

देवों ने उन का निज सिर काट कर अन्यत्र रख दिया और अश्व का सिर ला कर लगा दिया । दध्यङ् उस अश्व सिर से उन्हें पढ़ाने लगे । जब वह पढ़ाने लगे तब इन्द्र ने आ कर उन का वह अश्व सिर काट दिया । तदनन्तर अश्वी देवों ने उन का निज सिर ला कर जोड दिया । वेद में 'दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य०' इस ऋचा द्वारा यही बात कही है । यह रहस्य सब को नही बताना चाहिये क्योकि इन्द्र द्वारा शिरश्छेदन का भय है । परन्तु जिस को भली भांति जानता हो अनूचान हो, या अपना प्रिय हो उसे ही बतावे । अथवा जो एक वर्ष तक गुरु के पास शिष्य भाव से रहे उसे ही बतावे । जो ऊपर तप रहा है यही सवत्सर है, यही प्रवर्ग्य है इसे ही प्रीणन व तृप्त करना है ।

इस उपर्युक्त कथानक में कई बातें विचारणीय हैं । मधु क्या है ? मधु-विद्या और प्रवर्ग्य-विद्या का स्वरूप क्या है ? अश्वसिर, यज्ञ का सिर, उस का कट जाना, पुनः शिर-सन्धान आदि अनेकों विषय हैं जो कि विचारणीय हैं । ये सब विषय विस्तृत विचार की अपेक्षा रखते हैं पर हम यहां दधीचि

के स्वरूप स्पष्टीकरण में जितना आवश्यक है उतना ही विचार करते हैं। मधु-विद्या–बृ उ. २।५।१।

वैदिक साहित्य में मधु शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। ब्रह्म मधु है, पुरुष मधु है और यह समग्र विश्व मधु है। विचारणीय यह है कि इनको मधु क्यों कहा जाता है ? एक समाधान तो यह है कि ये मधु के समान आनन्द देने वाले हैं। मधु व मीठास वाले हैं। परन्तु यहा मधु-विद्या में हमें मधु-मक्षिका को दृष्टि में रख कर विचार करना होगा। यहां मधु के मीठास से कोई विशेष प्रयोजन नही है। एक दृष्टि तो यह है कि जिस प्रकार सारी मधुमक्खिया मधुकर राजा को घेर कर रखती हैं और उसी का अनुगमन करती हैं, उसी प्रकार इस विषय में पुरुष व आत्मा केन्द्रीय शक्ति है जिस को चहु ओर से घेर कर ये पञ्चमहाभूत और तदुत्पन्न लोक लोकान्तर आदि मधुमक्खियों की तरह उस का अनुगमन करते हैं। जिस प्रकार ये मधुमक्खियां छत्ते का निर्माण कर मधु एकत्रित करने के लिए उड़ कर चहुं दिशाओं में जाती हैं और पुष्पों से मधु सञ्चय करके लाती हैं। उसी प्रकार शरीरों का निर्माण कर और उनमें अंशरूप

में विद्यमान सब भूत व सब देव ब्रह्माण्ड में विद्यमान महाभूतों से मधु सग्रह करके लाते हैं और इस मधु का भक्षण करते हैं। अतः ये सब महाभूत लोक, प्राण व देव आदि स्वय मधु भी हैं और मधु भक्षण करने वाली मधु मक्खियां भी हैं। ये अन्न भी हैं और अन्नाद भी है। इसी भांति यह आत्मा सब भूतों का मधु है और सब भूत इस आत्मा के मधु हैं। पर हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि यह आत्मा इन भूतों का अधिपति१ है। जिस प्रकार रथ से रथनेमियाँ अर्पित होती हैं उसी प्रकार सब लोक, सब देव, व सब भूत आदि इस आत्मतत्व में अर्पित हैं।

---

१. स वा अयमात्मा सर्वेषा भूतानामधिपतिः सर्वे भूतानां राजा तद् यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मनः समर्पिताः ।
श.प. १४।२।५।१५ बृ.उप. २ अ. ५ ब्रा.१५ ।

यह मधुभाव किस प्रकार कार्य करता है, यह हम उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते हैं। यथा—यह पृथिवी[१] सब प्राणियों के लिए मधु है क्योंकि प्रतिक्षण असंख्य प्राणी चारों दिशाओं से उड़ कर इस पृथिवी पर आते हैं और जन्म लेते हैं। किस लिए ? भोग (मधु) भोगने के लिए। दूसरी दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि पृथिवी के चारों ओर विद्यमान ये पांचों महाभूत और उन में निहित समग्र प्राणी स्वय मधु हैं। क्योंकि पृथिवी आदि लोकों से प्रतिक्षण अनन्त-जीवों को मधु की तरह सग्रह कर न जाने कौन कहा ले जाता है। इस प्रकार रात दिन आवागमन लगा हुआ है। प्राणी के जीवन दशा में भी प्रतिक्षण मधु-सञ्चय की प्रक्रिया चल रही है। ये इन्द्रियां बाह्य ब्रह्माण्ड में जाती हैं और मधु सञ्चय कर लौट आती हैं। इस पृथिवी में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है जो कि इस पृथिवी का नियमन कर रहा है। पिण्ड में

---

१. श. प. १४।५।५।१।

वह शरीर-आत्मा कहलाता है। जिस के अधीन शरीर की सब गतिविधि चल रही है। सब जीवों की पुरियों को निर्माण करने वाला वही है। वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है। अन्त में शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि यह मधु१ जिस का मन्त्र में कथन हुआ है वह आथर्वणदध्यङ् ने

---

१. इदवैतन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेदृषिः पश्यन्नवोचत् पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशदिति स वा अयम्पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरि शयो नैनेन किञ्चनानावृतन्नैनेन किञ्चनासंवृतम्। श. प. १४।५।५।१८ रूप रूप प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूप प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेत्यय वै हरयोऽय वै दशच सहस्राणि बहूनि चानन्तानि, च तदेतद् ब्रह्मापूर्वमपरमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।

श. प. १४।५।५।१६।

अश्वियों को बताया था, उस मधु को देखता हुआ ऋषि कहता है कि 'इस आत्मतत्व ने दोपाये पुर बनाये और चौपाये पुर बनाये और वह पुर में बसने वाला पुरुष पक्षी के समान उड़ उड़ कर इन पुरों में प्रवेश करता रहता है।' इस का भाव यह है कि यह आत्मा दोपाये और चौपाये पुरों अर्थात् शरीरों का निर्माण करता है। और जन्म जन्मान्तरों में कर्मफलानुसार इनमें प्रवेश करता जाता है और मधु सञ्चय कर उस का भोग करता है। इन पुरों में बसने के कारण वह पुरुष कहलाता है। इन पुरों में ऐसा कोई स्थान नहीं जो इस से आवृत न हो। और ना ही ऐसा कोई स्थान है जो इस से असवृत हो। आगे कहा कि वह इन्द्र रूप रूप के प्रति तद्‌रूप हुआ होता है, इस प्रकार वह अपनी माया अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों से पुरुरूप हुआ २ गति करता है, तो इस के इस रूप के प्रतिचक्षण प्रकाशन व व्याकरण के लिए दसों सहस्रों अर्थात् अनन्त हरि नियुक्त हुए-हुए हैं। इस प्रकार इस ब्रह्म के न तो कोई पूर्व है न पर है न अन्दर और

न बाहिर है। ऐसा यह आत्मतत्व रूप ब्रह्म सर्वानुभू अर्थात् सर्व रूपों में तदनुकूल बना हुआ है।' यह मधु भाव है। इस का सूक्ष्म ज्ञान मधु-विद्या है। आप, वायु अग्नि आदि पञ्चमहाभूतों तथा अन्य पशुतत्वों पर विचार किया जा सकता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में परस्पर एक दूसरे के मधु व मधु सग्राहक भाव को दर्शाने वाले कुछ तत्वों का परिगणन हुआ है। उन की व्याख्या न कर हम उन्हें तालिका में दर्शाते हैं।

	ब्रह्माण्ड		पिण्ड
१	पृथिवी	१	शारीर: पुरुष:
२	आप.	२	रेतस: ,,
३	अग्नि:	३	वाङ्मय ,,
४	आकाश:	४	हृद्याकाश पुरुष:
५	वायु.	५	प्राण: ,,
६	आदित्य:	६	चाक्षुष, ,,
७	चन्द्र:	७	मानस: पुरुष:
८	दिश:	८	श्रोत्र: पुरुष:
९	विद्युत्	९	तैजस: पुरुष:

१०	स्तनयित्नुः	१०	शाब्दः सौवरः
११	धर्मः	११	धार्मः
१२	सत्यम्	१२	सात्यः
१३	मानुषम्	१३	मानुषः
१४	आत्मा	१४	आत्मा

इस उपर्युक्त तालिका के सूक्ष्मनिरीक्षण से हमें ज्ञात होता है कि जो बाह्य ब्रह्माण्ड में मधु है वह पिण्ड में अपने अंश रूप में रहता हुआ मधु-सग्राहक है। जिस प्रकार बाह्य ब्रह्माण्ड में पृथिवी आपः अग्निः वायु, आदित्य आदि तत्व महान् आत्मा के आश्रय से रहते हैं उसी प्रकार पिण्ड में भी ये जीवात्मा के अधीनस्थ हैं। इनका मधु-सञ्चय आत्माधीन है। पिण्ड से ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड से पिण्ड में मधु सग्रह व मधु भक्षण की प्रक्रिया निरन्तर चल रही है। यह मधु विद्या है। इसका ज्ञान मनुष्य को दधीचि अवस्था में पहुच कर होता है। अर्थात् मस्तिष्क के अन्दर जो दिव्य शक्तियों के ९९ केन्द्र हैं उन पर पड़े हुए वृत्र रूपी आवरण को ध्यान की उग्रता में विनाश कर मधु विद्या का प्रत्यक्ष दर्शन व ज्ञान हो सकता है।

अश्वी देव—

मनुष्य की ध्यान की अवस्था दधीचि है यह एक ऋषित्व की अवस्था है अर्थात् इस अवस्था में पहुंच कर मनुष्य को अतीन्द्रिय तत्वों का दर्शन होता है। यह अतीन्द्रिय तत्वों का दर्शन दधीचि की कृपा से अश्वी देवों को हुआ। अब विचारणीय यह है कि अश्वी देव कौन हैं? अश्वी देवों का स्वरूप वेदों में सबसे अधिक विवादास्पद है। हमने इनके सबन्ध में "आत्म समर्पण" नामक पुस्तक में विचार किया हुआ है। यहां सक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि जहा दो सयुक्त होकर कार्य का निर्वाह करते हैं, वह आश्विन कर्म है। इसी दृष्टि से दो श्रोत्र, दो नासिका छिद्र, दो चक्षु, आदि युग्म अगो का संयोग होकर कार्य का निर्वाह होना आश्विन रूप है। शरीर के मर्त्य और अमर्त्य तत्वों का सयोग, चेतन तत्व और अचेतनतत्व का संयोग सूक्ष्म व स्थूल का सयोग होकर कार्य-निर्वाह होना आश्विनरूप है। स्थूल मन और स्थूल बुद्धि में सूक्ष्म जगत् का अवतरण, दर्शन व ज्ञान आदि का होना आश्विन कर्म है। दधीचि अर्थात् ध्यान मे लवलीन व्यक्ति अपनी ध्यान की

शक्ति से इन्द्रियों के केन्द्रों तक पहुचता है। ये इन्द्रियां अश्व हैं। बुद्धि सूर्य के सप्ताश्व हैं। इन इन्द्रियात्मक अश्वों के सिरे (Brain Centres) पर पहुचने पर 'उषा' दिव्य जगत् की झाकी दिखाने वाला दिव्य सूर्य का प्रातः कालीन प्रकाश उदित होता है। इस दिव्य उषा का प्रकाश हमारी स्थूल चेतना मे दिव्य जगत् की झाकी को प्रकट करता है। 'ब्रह्माण्ड व्यापी अश्वी देवों के आवागमन आदि विविध कार्यों का ज्ञान पिण्ड मे विद्यमान हमारे आन्तरिक अश्वी देवो को होता है। हमारे मन और बुद्धि सयुक्त होकर अर्थात् अश्वी बन कर जब ध्यान की शक्ति से इन्द्रिय केन्द्रों मे पहुच जाते हैं तब दिव्य उषा के प्रभाव से इन मन और बुद्धि मे दिव्य जगत् की झाकी अवतरित होती हैं। ब्रह्माण्ड और पिण्ड मे मधु मक्षिकाओं की तरह मधु संग्रह की प्रक्रिया किस प्रकार हो रही है यह ज्ञात हो जाता है। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि बृहदारण्यकोपनिषद् में मधु और मधु सग्राहक के अनेकों क्षेत्र है ये सभी गुह्य-विद्या व गुह्य-दर्शन से सम्बन्ध रखते हैं।

अश्वियों द्वारा दधीचि का सिर काटना—

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि दधीचि में ध्यान की अवस्था प्रमुख है इस ध्यानावस्था को मानव चोला पहनाया गया है। दधीचि अर्थात् ध्यान में लवलीन होने की अवस्था में जब तक सम्प्रज्ञात अवस्था रहती है, तब तक मनुष्य को किसी अश मे शरीर व अपनी सत्ता का बोध रहता है, परन्तु जब ध्यान मे तीव्रता आ जाती है तब किसी प्रकार का बोध नही रहता। सत्ता का बोध होना मस्तिष्क का धर्म है। बोध न रहना शिर व मस्तिष्क का एक प्रकार से कट जाना है। यह अवस्था तब होती है जब मन और बुद्धि दोनों एक दूसरे में अत्यन्त घुलमिल जाते हैं (युञ्जते मन उत युञ्जते धियः)। दोनों की सधि हो जाती है, किन्ही दो की सधि वेद की भाषा मे आश्विन रूप है। अर्थात् इस सधि अवस्था में मन और बुद्धि अश्वी बन जाते हैं। इन मन और बुद्धि की सधिकी अवस्था में सत्ता का बोध न रहना दूसरे शब्दों में मन और बुद्धि रूपी अश्वियों द्वारा

दधीचि का सिर काट देना है । जब अश्वी देव दधीचि का सिर काट देते हैं तो उसके स्थान पर वे अश्वसिर को लगा देते हैं । अश्व-सिर उषा हैं, अर्थात् मन और बुद्धि की सन्धिरूपी आश्विन अवस्था में दिव्य जगत् की भाकी दिखाने वाली उषा प्रकट होती हैं । दिव्य जगत् का आविर्भाव होना इन्द्र के क्षेत्र में पदार्पण करना है । परन्तु जब दिव्य जगत् व दिव्य जगत् की शक्तियों को स्थूल मन और बुद्धि में उतारने का प्रयत्न किया जाता है अर्थात् इन मन और बुद्धि रूपी अश्वियो को दधीचि द्वारा मधुविद्या की शिक्षा दी जाती है तो दिव्य जगत् को प्रकट करने वाली उषा समाप्त हो जाती है । यह उषा ही अश्व सिर है । इस उषा रूपी अश्वसिर का न रहना दूसरे शब्दों में इन्द्र द्वारा दधीचि का अश्व सिर काट देना है ।

अश्व-सिर—

अश्वी देवों ने दधीचि के निज सिर को काट कर अन्यत्र रख दिया और उसके स्थान पर अश्व सिर लाकर लगा दिया । इस अश्वसिर के सबध

में मन्त्रों में वर्णन हुआ है और ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके सम्बन्ध में कई कथानक आते हैं इन कथानकों पर हम आगे विचार करेंगे । यहां हम अश्व और उसका सिर क्या है इस पर विचार करते हैं।

अश्व—

इस सौर मण्डल के अधिपति आदित्य अर्थात् सूर्य को शास्त्रों में अश्व माना गया है (असौ वा आदित्योऽश्वः) । श० प० ७।३।२,१० तै० ब्रा० ३।६।२३।२ इस आदित्य से प्रसृत व क्षरित होने वाली सैकड़ों व सहस्रों किरणें भी शास्त्रों में अश्व कही गई हैं । यथा–'यदेतदश्रु सक्षरितमासी देष सोऽश्व ' श०प० ६।३।१ २८ अर्थात् क्षरित अश्रु अश्व है, यहा अश्रु पद से सामान्य आंसुओं का ग्रहण नही करना है । इन्द्रिय केन्द्रों (Brain centers) से जो ज्योति क्षरित हो रही हैं, वही अश्रु हैं, और उसे अश्व भी कहा है । इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह दिया है कि 'प्रजापतेरक्ष्यश्वयत् तत् परापतत् तदश्वोऽभवत्

तदश्वस्याश्वत्म्' । श० प० १३।३।१।१, तै० ब्रा० १।१।५ ४

अर्थात् प्रजापति की आंख जब प्रवृद्ध हुई तो वह परे जाकर पड़ी वह अश्व बन गई । परन्तु यहां यह बात ध्यान देने की है कि इन किरणों व ज्योतियों का अश्व नाम उसी समय होता है जब कि वे सम्पूर्ण पृथिवी अथवा स्व विषय को अभि-व्याप्त कर लेती हैं, या आगे-आगे व्याप्त करती जाती हैं (अशूङ् व्याप्तौ) अश्व प्राणी तथा सूर्य व अग्नि किरणों की व्याप्ति में समानता कितनी है यह विवेचनीय है । मानव शरीर में मस्तिष्कान्तर्गत विज्ञानात्मा भी सूर्य है जिससे सैकड़ों व सहस्रों नस नाड़ियों के माध्यम द्वारा ऐन्द्रियिक शक्तियां शरीर में चहु ओर प्रसृत होरही हैं । जिस प्रकार भौतिक सूर्य की अनन्त किरणे स्वरूप की दृष्टि से ७ प्रकार की हैं, इसी प्रकार इन सैकड़ों व सहस्रों नस नाड़ियों में प्रवाहित शक्तियां भी ७ इन्द्रिय केन्द्रों (Brain centres) में विभक्त करने पर ७ प्रकार की हो जाती हैं । शरीर में तथा विषयों में व्याप्त होने वाली ये इन्द्रियां अश्व कही गई हैं । इसी कारण बुद्धि सूर्य

को 'सप्ताश्व' कहा जाता है। यह अश्व नामक ऐन्द्रियिक शक्ति मस्तिष्क द्रव से पैदा होती है अतः इस अश्व को 'अप्सुयोनि' व अप्सुजा (श. प ७। ५।२।१८, तै. ब्रा ३।८।४।३) कहा गया है। मस्तिष्क-द्रव से पैदा होने वाला यह अश्व 'असर्व' रूप में पैदा होता है अर्थात् अपनी सम्पूर्ण शक्ति को ले कर नही पैदा होता। इस की कुछ शक्ति मस्तिष्क-द्रव (Cerebro spinal fluid) में नियन्त्रित रहती है परन्तु जब यह मस्तिष्कान्तर्गत अश्व पूर्ण रूप में बाहिर निकल पडता है, तब नस नाडियों के नियन्त्रण में न रह कर अत्यन्त दूर लोक लोकान्तरों में जा पहुचता है। इसी बात को श प. १३।३।५।५ में निम्न शब्दों में प्रकट किया गया है।

'रश्मिना वा अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वोऽयतोऽधृतोऽप्रतिष्ठित· परा परावत गन्तोः०' अर्थात् यह अश्व रश्मि से नियन्त्रित होता है। परन्तु जब वह 'ईश्वर' पूर्ण शक्ति से युक्त होता है तब वह रश्मियों (नस नाड़ियों) द्वारा नियन्त्रित व बद्ध न हो कर (अयतः) और उन से धारण न किया जा कर (अधृतः) तथा उन में स्थित व प्रति-

ष्ठित न रह कर स्वतन्त्र रूप से दूर से दूर देश तक जाने वाला होता है। इस अवस्था में ये नस-नाड़ियां व इन्द्रियगोलक उस के नियन्त्रण करने वाले तथा कार्य के माध्यम नहीं रहते। यह अवस्था बुद्धीन्द्रियों की दिव्य अवस्था है। अब यदि हम यह जानना चाहे कि अश्व-सिर क्या है ? तो हम यह कह सकते हैं कि मस्तिष्क में ज्ञानेंद्रियों का वह प्रारम्भिक सिरा जहां से कि वे इन्द्रिया प्रारम्भ हो कर नीचे के अङ्गों में फैलती हैं वह सिरा अश्व-सिर कहा जा सकता है। यह सिरा (cerebro spinal fluid) से प्रारम्भ होता है। इसी कारण अश्व को अप्सुजा व अप्सुयोनि कहा गया है। मस्तिष्क में ध्यान करते करते जब मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों के अन्तिम सिरे पर पहुच जाता है तो इस बुद्धिसूर्य का कुछ कुछ धुधला सा प्रकाश प्रस्फुटित होता है। यह उषा है क्योंकि अश्व के सिरे पर पहुचने पर 'उषा' आती है, इसी लिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस उषा को मेध्य अश्व का सिर मान लिया है। वहां आता है 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' बृहदारण्यकोपनिषत्। वास्तविक ध्यान की अवस्था में मनुष्य के मन और बुद्धि

संयुक्त हो जाते हैं और उस समय वे अश्वीरूप को धारण करते हैं। इस प्रकार परस्पर संयुक्त हुए मन और बुद्धि रूप अश्वी देवों को इस उषा में पहुच कर भौतिक सूक्ष्मशक्तियों तथा जीवों आदि का परस्पर का आदानप्रदान, आवागमन आदि सूक्ष्म गतियों, पिण्ड व ब्रह्माण्ड के अंश अंशी आदि रूपों का ज्ञान हो जाता है। यह सूक्ष्म ज्ञान होना ही मधु-विद्या की उपलब्धि है। यह मनुष्य की दधीचि अवस्था में अश्वी रूप को धारण किये हुए मन और बुद्धि को उपलब्ध होती है। इस दिव्य उषा में मन और बुद्धि का संयुक्त हो कर अश्वी रूप को धारण करना वेद के शब्दों में 'प्रातर्युजा' रूप है। यह मन और बुद्धि का सूक्ष्म रूप है। पर ज्योंहि स्थूल मन और स्थूल बुद्धि में उस सूक्ष्म जगत् को उतारने का प्रयत्न किया जाता है त्यों ही वह उषा समाप्त हो जाती है। क्योंकि मन और बुद्धि में उस को उतारना स्थूलता में प्रवेश करना है। स्थूलता में प्रवेश मात्र से ही वह सूक्ष्म जगत् की दिव्य उषा जाती रहती है। एक प्रकार से वह अश्वसिर इन्द्र द्वारा काट दिया जाता है।

अश्व-सिर और शर्यणावान् सर

हम ऊपर यह दर्शा चुके हैं कि मस्तिष्क में ज्ञानेन्द्रियों का वह अन्तिम सिरा–जहा से कि ये इन्द्रियां प्रारम्भ होती हैं, अश्व सिर कहा जा सकता है और वह सिर मस्तिष्क-द्रव (cerebro spinal fluid) से प्रारम्भ होता है। इस मस्तिष्क-द्रव को शास्त्रों मे शर्यणावान् सर नाम दिया गया है। परन्तु विचारणीय यह है कि मस्तिष्क-द्रव के शास्त्रो में जो चार कूप वा सर बताये गये हैं। यथा–

तद्य इमे शीर्षश्चत्वारः कूपा इमावहद्राविमौ। श. प. ३।५।४।१। इन में किस द्रवकूप का नाम शर्यणावान् सर है? इस के समाधान के लिए शर्यणावान् सर पर कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं। वेद के निम्न मन्त्रों में शर्यणावान् सर का वर्णन आता है (ऋ. १।८४।१४, ८।६।३९,७।२९, ६४। ११, ९ ६५।२२, ११३।१, १०।३५।२)। इन मन्त्रों के अर्थ हमने अन्यत्र दिये हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों व कथानकों के आधार पर शर्यणावान् सर के स्वरूप निम्न प्रकार हैं। तै. ब्रा. १।५।८ में 'इन्द्रो दधीचो०' आदि मन्त्रों का विनियोग पञ्चमी चिति में बताया गया है। पञ्चमी चिति का

स्थान ग्रीवा है। अतः ग्रीवा व उस के ऊपर तक इन मन्त्रों का विनियोग करना चाहिये ऐसा हम पूर्व में प्रदर्शित कर चुके हैं। इसी ग्रीवा के क्षेत्र में विनियुक्त मन्त्रों में शर्यणावान् सम्बन्धी निम्न मत्र भी हैं।

इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्।
तद् विदच्छर्यणावति ।। ऋ. १।८४।१४।

अर्थात् पहुच से परे पर्वतों पर आश्रित अश्व के जिस सिर को इन्द्र चाह रहा था वह उस ने शर्यणावान् नामक सर मे प्राप्त किया।

यह मन्त्र का सामान्य अर्थ है। क्योंकि इस मन्त्र का विनियोग ग्रीवा मे हुआ है अतः शर्यणावान् सर ग्रीवा के आस पास का मस्तिष्क का कोई द्रवकूप हो सकता है। इन द्रवकूपों को अग्रेजी में वेण्ट्रिकल्स (Ventricles) कहते हैं। श प. ३।५।४।१ मे इन चारो द्रवकूपों को दो विभागों मे विभक्त किया है। ग्रीवा के पास का विभाग तृतीय व चतुर्थ वेण्ट्रिकल्स का हो सकता है चौथा द्रवकूप तो सुषुम्णाशीर्षक (Medulla oblongata) और उष्णीषक (Pons) के पृष्ठ भाग

पर स्थित होने से ग्रीवा में ही कहा जा सकता है। अतः ३य द्रवकूप से ४र्थ द्रवकूप तक का समग्र भाग हमारा अभीष्ट शर्यणावान् सर हो सकता है। ऋ. १।८४।१३ मन्त्र के सायण भाष्य में शाट्यायनकों का एक कथानक आता है जो कि इस प्रकार है १[1] अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ऋषि जब तक जीवित रहे तब तक इन के दर्शन मात्र से असुर गण परा-

---

१. तथेतिहास । आथर्वणस्य दधीचो जीवतो दर्शनेनासुरा पराबभूवुः । अथ तस्मिन् स्वर्गते असुरैः परिपूर्णा पृथिव्यभवत् । अथेन्द्रस्तैरसुरैः सह योद्धुमशक्नुवन् तमृषिमन्विच्छन् स्वर्गंगत इति शुश्राव । अथ तत्रत्यान् पप्रच्छ नेह किमस्य किञ्चित् परिशिष्टमस्तीति । तस्मै अवोचत् अस्त्येतदाश्व शीर्षं येन शिरसा अश्विभ्या मधुविद्या प्राब्रवीत् । तत्तु न विद्मो यत्राभवदिति । पुनरिन्द्रोऽब्रवीत् तदन्विच्छतेति । तद्धान्वैषिषुः तच्छर्यणानुविद्याजह्रुः । शर्यणावद्ध वै कुरुक्षेत्रस्य जघनार्धे सर स्यन्दते तस्य शिरसोऽस्थिभिरिन्द्रोऽसुरान् जघानेतीममर्थमनयोत्तरया च ऋचाऽऽह ।

भूत होते गये। परन्तु इस के स्वर्गवास हो जाने पर यह पृथिवी असुरों से परिपूर्ण हो गई। इन असुरों के साथ युद्ध करने में असमर्थ इन्द्र इस ऋषि को ढूढने में व्यस्त रहे। कुछ काल पश्चात् उन्हें मालूम हुआ कि वे तो स्वर्ग चले गये हैं। वहा के निवासियों से पूछा कि दध्यङ् का कोई अङ्ग तो अवशिष्ट नही है? उन्होंने उत्तर दिया कि हां, यहा अश्वसिर है, जिससे कि अश्वी देवों को मधु विद्या प्रदान की थी। परन्तु वह कहां है यह हमें मालूम नही। इन्द्र ने उन्हे अश्वसिर के खोजने की आज्ञा दी। खोजने के पश्चात् उन्होंने इन्द्र से कहा कि वह शर्यणावान सरोवर में है। कुरुक्षेत्र के निकट जो सरोवर है उस का नाम शर्यणावान् है। तदनन्तर इन्द्र उस अश्वसिर की हड्डी से असुरो का हनन करने लगे।'

इस उपर्युक्त कथानक के तुल्य तथा तदनुरूप कथानक जैमिनीय ब्राह्मण ३।६४ में भी आता है। इस कथानकों का सामान्य भाव यही है कि दधीचि अर्थात् ध्यान की अवस्था में प्रत्ययैकतानता रहती है। ज्ञान का सदृश प्रवाह प्रवाहित रहता है। इस अवस्था में आसुरी विचार व अन्यवृत्तिया नही

रहती। पर जब दधीचि न रहा अर्थात् ध्यान की अवस्था समाप्त हुई तो पुन: मन में सांसारिक वृत्तियों तथा प्रलोभनों की बाढ़ आने लगी। इस को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि अश्वसिर अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों की अन्तिम सीमा पर पहुंच कर उषा अर्थात् दिव्य प्रकाश का अवलोकन व चिंतन करे। इस उषा के प्रकाश में वे आसुरी वृत्तियां न टिक सकेंगी। यही भाव इस वाक्य में संग्रहीत हुआ है। 'त ह स्म यावन्तोऽसुरा परापश्यन्ति ते ह्यस्य तदेव विशीर्षाणश्शेरते' जे. ब्रा. ३।६४।

यह शर्यणावान् सर ऋग्वेद में अनेकों मन्त्रों में आता है। सायणाचार्य आदि प्राचीन भाष्यकार और आधुनिक पिश्चल (Pischel) हिल्ब्रण्ट (Hillebrandt) आदि योरोपियन विद्वान् इसे पार्थिव स्थान मानते हैं। उनके मत में यह कुरुक्षेत्र के समीपस्थ कोई सरोवर था। परन्तु इन्हीं योरोपियन विद्वानों में बर्गेन (Bergaigne) इसे सोम-सवन करने वाला एक आकाशीय तत्व मानता है। हमारे विचार में यह शरीराभ्यन्तरवर्ती मस्तिष्क का द्रवकूप (Ventricles) है जैसा कि हम पूर्व में दर्शा चुके हैं। अब हम कुछ

मन्त्रों के आधार पर यह स्पष्ट करते हैं कि यह शर्यणावान् सर शरीराभ्यन्तरवर्ती सर है। मन्त्र इस प्रकार है—

१ वृत्र का हननकर्ता यह इन्द्र शर्यणावान् सर में सोम का पान करे। आत्मा में बल को धारण कराते हुए और महान् वीर्य को प्रकट करते हुए हे सोम, तू इन्द्र के लिए परिस्रुत हो।

२ हे दिशाओं के स्वामी, शक्ति का सिंचन करने वाले हे सोम, तू आर्जीक अर्थात् अकुटिल स्थान से पवन कर या क्षरित हो। ऋतमयी वाक् से, सत्य से, श्रद्धा से और तप से अभिषुत हुए हे सोम, तू इन्द्र के लिए परिस्रुत हो।

३ पर्जन्य (वीर्य) से वृद्धिगत उस महान् शक्ति वाले सोम को सूर्य की दुहिता अर्थात् श्रद्धा धारण करती है। ऋ ९ ११३।१ ३।

उदाहरणार्थ हमने ये तीन मन्त्र दिखाये हैं। इस सूक्त में जिस सोम का वर्णन है वह शर्यणा-वान् सर का सोम है। इस सोम की उत्पत्ति व वृद्धि ऋतमयी वाक्, सत्य, श्रद्धा तथा तप से

बतायी है। इस से यह स्पष्ट है कि यह सोम शरीरान्तर्गत सोम है। अतः शर्यणावान् सर भी शरीरान्तर्गत सरोवर ही है।

निरुक्त में शर्या पद अंगुली नामों में पठित है–

"शर्याभिः विधीयमानाः क्रियाः शर्यणा तद्वान् शर्यणावान्।"

इस व्युत्पत्ति के आधार पर यह यज्ञ व स्थान का वाचक हो सकता है। शरीराभ्यन्तरवर्ती प्रदेश में नर्वस सिस्टम सब कर्मों का विधायक है, ये नाड़ियां भी अगुलियों की तरह मस्तिष्क केन्द्र से निकल सब कार्यों का सम्पादन कर रही हैं। शर्या हिंसार्थक शृ धातु से व्युत्पन्न मानने पर सरकण्डों से निर्मित बाण का सूचक है। शर्यणावान् सर से उत्पन्न उषा द्वारा असुरों का विनाश बताया है। जिस प्रकार सरोवर के चारों ओर सरकण्डे निकले होते हैं 'नडा इव सरसो निरतिष्ठन्' उसी प्रकार ये नाड़ियां भी मस्तिष्क द्रव से निकल कर शरीर में चहुं ओर फैलती हैं। इस प्रकार शर्यणावान् सर का दिग्दर्शन हमने कराया। अब प्रसग वश दो

एक शब्द कुरुक्षेत्र पर भी कह देना उपयुक्त होगा ।

कुरुक्षेत्र— श. प. १४।१।१।१ में आता है कि 'अश्वियों को छोड़ कर अग्नि, इन्द्र, सोम, मख और विश्वेदेव ये सब एक यज्ञ करने लगे । इन का यज्ञीय स्थान कुरुक्षेत्र था । इसीलिए कुरुक्षेत्र को देवों का देवयजन कहा जाता है । इस कारण जहा कही कुरुक्षेत्र की नितराप्रतीति हो वही देव यजन है ऐसा हमें समझना चाहिये ।' इस उपर्युक्त भाव को प्रकट करने वाले शतपथ के वाक्य निम्न प्रकार हैं 'देवा ह वै सत्रन्निषेदु. । अग्निरिन्द्र सोमो मखो विष्णुर्विश्वेदेवा अन्यत्रैवाश्विभ्याम् । तेषा कुरुक्षेत्रं देवयजनमास । तस्मादाहु कुरुक्षेत्र देवाना देवयजनमिति तस्माद् यत्र ह च कुरुक्षेत्रस्य निगच्छति तदेव मन्यत इद देवयजनमिति तद्धि देवानाँ देवयजनम् । श. प. १४।१।१।१—२ ।

यहाँ कुरुक्षेत्र बाह्य प्रदेश नही हो सकता । अध्यात्म क्षेत्र का ही यह प्रदेश है जहाँ कि इन्द्रियां आदि देवयजन कर रहे हैं । इस का निर्णय दो-

तीन बातो से होता है। एक तो यज्ञ करने वाले अग्नि, इन्द्र, सोम, मख आदि व्यक्तियां नही हैं। इन का स्वरूप ही आन्तरिक तत्वों का है यह हम अन्यत्र दर्शा चुके हैं। दूसरा 'तस्माद् यत्र च कुरुक्षेत्रस्य निगच्छति तदेव मन्यत इद देवयजनमिति' अर्थात् जहां कही कुरुक्षेत्र की नितरा प्रतीति हो वही देवयजन है ऐसा मानना चाहिये। यह वाक्य रचना इस तथ्य को स्पष्ट कर रही है कि उपर्युक्त प्रकरण में कुरुक्षेत्र कोई नियत स्थल नही है। तीसरे यहां ब्राह्मण ग्रन्थ में कुरुक्षेत्र का ग्रहण उसी प्रकार समझना चाहिये जिस प्रकार शुन. शेप के प्रकरण में हरिश्चन्द्र व रोहित आदि का हुआ है। अतः कुरुक्षेत्र कर्मक्षेत्र है, मस्तिष्क में इन्द्रियो की कर्मभूमि है। हमें ब्राह्मण ग्रन्थो के वेद सम्बन्धी कथानकों पर विचार करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिये कि वे कथानक कभी २ ऐतिहासिक व्यक्तियों व भौगोलिक स्थान-विशेषों का आश्रय ले कर रहस्यो को स्पष्ट तो करते हैं पर उन के ही वाचक नही होते। इसी दृष्टि से यहां कुरुक्षेत्र

व शर्यणावान् सर की भौतिक सत्ता नही है। 'उषा' जिसे कि अश्वसिर कहा गया है वह भौतिक उषा व अश्व पशु का सिर नही है। ये काल्पनिक व आलकारिक वर्णन हैं जो कि मस्तिष्क के अन्दर की स्थिति व सत्ता को बताते हैं। इन को बाहिर कही भूतल पर ढूढना वैदिक वर्णन शैली को न समझना है। अब इस दधीचि द्वारा अश्वियों को मधुविद्या देने के सम्बन्ध में आये वेदमन्त्रों के अर्थों पर विचार करते हैं।

तद् वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्य-
तुर्न वृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो
वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच ॥

ऋ. १।११६।१२।

(नरा) हे नेतृगुण वाले अश्वियों, (यत्) जब (दध्यङ् आथर्वणः) अथर्वा के पुत्र दध्यङ् ऋषि ने (यत् ई मधु) जिस इस मधु विद्या का (वां) तुम दोनों को (अश्वस्य शीर्ष्णा) अश्व के सिर से (उवाच) प्रवचन किया था (वां) तुम दोनों

के (तत्) उस (उग्र दंसः) शिरश्छेदन रूप उग्र कर्म को मैं भी (सनये) मधुविद्या की प्राप्ति के लिए उसी प्रकार (आविष्कृणोमि) प्रकट करता हू (तन्यतुर्न वृष्टिम्) जिस प्रकार बिजली कड़क कर वृष्टि को प्रकट कर देती है ।

यहा मन्त्र में अश्वियों को 'नरा' कहा गया है । 'नरा' इस लिए कहा कि नयन का साधन समग्र यातायात इन के अधीन होता है । ये मनुष्य को उन गुह्य मय स्थानों में पहुचाने वाले हैं जहां पहुच कर मनुष्य को सूक्ष्म जगत् की समग्र प्रक्रियाओं का ज्ञान हो जाता है । आत्म तत्व के आधिपत्य में सब लोको सब देवों व समग्र भूतों में किस प्रकार आवागमन तथा परस्पर का आदान प्रदान चल रहा है इस का दिव्य दर्शन हो जाता है । यह सब कैसे हो जाता है, इस को वृष्टि के उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया गया है कि जैसे बिजली कड़क कर जल को रोक रखने वाले आवरण को भेदन कर देती है और जलधारायें बरसने लगती हैं इसी भांति मस्तिष्क के बुद्धिकेन्द्रों पर पड़े आवरण को दधीचि की अस्थियां अथवा

दिव्य उषा प्रकट हो कर उसे भेदन कर देती है तो दिव्य ज्योति की धाराओं का उद्गम होने लगता है।

अश्वियों का उग्र कर्म

इस मन्त्र में अश्वियों के उग्र कर्म की ओर भी निर्देश हुआ है। अश्वियों का उग्र कर्म क्या है? दधीचि का शिरश्छेदन। दधीचि अर्थात् मनुष्य के ध्यान की अवस्था में मस्तिष्क का जो पूर्व रूप है कालान्तर में जा कर वह परिवर्तित हो जाता है। मस्तिष्क के बुद्धि केन्द्रों पर पड़ा आवरण विनष्ट हो जाता है। दिव्य उषा प्रकट हो जाती है जिस से समग्र सूक्ष्म जगत् का दिव्य दर्शन हो जाता है। यह परिवर्तन बहुत परिश्रम साध्य है। अतः अश्वियों द्वारा किया गया यह कार्य उग्र कर्म माना गया है।

आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यंशिरः प्रत्यैरयतम्। स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद् दस्रावपि कक्ष्यं वाम्॥

ऋ. १।११७।२२।

(अश्विना) हे अश्वियों ! तुम (आथर्वणाय दधीचे) अथर्वा के पुत्र दधीचि के लिए (अश्व्य शिर प्रत्यैरयतम्) अश्व के सिर को लाये (स ऋतायन्) ऋत में विचरते हुए उस दधीचि ने (वा मधु प्रवोचत्) तुम दोनों को मधुविद्या का प्रवचन किया और (दस्रौ) शत्रु हिसक अश्वियों ने (यत्) जो (त्वाष्ट्र अपि कक्ष्य) त्वष्टा सम्बन्धी गुह्य व प्रच्छन्न प्रकोष्ठ है वह भी (वां) तुम को बताया।

इस मन्त्र में दो एक शब्दों पर ही प्रकाश डालने की आवश्यकता है। एक तो ऋतायन्' दूसरा "त्वाष्ट्र अपिकक्ष्य"। ऋतायन्-ऋत गति व ऋताचरण को सूचित करता है। ऋतगति ऋजु व सरल गति होती है। यह सूक्ष्म व दिव्य जगत् की गति है। यह सृष्टि की पेचीदा (Complex) गति नहीं होती। दूसरा विचारणीय पद त्वष्टा सम्बन्धी गुह्य प्रकोष्ठ है। त्वष्टा संसार को तक्षण करने वाला रूप है। किस तत्व से क्या और कैसी निर्मिति हो रही है, क्या पदार्थ प्रयुक्त हो रहा है अर्थात् शिल्प की समग्र विधि व प्रक्रिया का सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है। त्वष्टा का वह अपिकक्ष्य

अर्थात् प्रच्छन्न प्रकोष्ठ "किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु" इत्यादि मन्त्रों में प्रदर्शित हुआ है ।

उत स्या वां मधुमन्मक्षिकारपन्मदे सोमस्यौशिजो हुवन्यति ।
युवं दधीचो मन आविवासथोऽथा शिरः प्रति वामश्व्यं वदत् ।

ऋ० १ । ११६ । ६

(उत) और (स्या) वह (मधुमत् मक्षिका) मधु जिसको उपलब्ध हो चुका है ऐसी मधुमक्खी (वां) तुमको (रपत्) गुन गुन ध्वनि द्वारा व्यक्त कर रही है, और (औशिज.) उशिक् पुत्र कक्षीवान् अर्थात् कान्ति व दीप्ति द्वारा जिसके मस्तिष्क के प्रकोष्ठ खुल चुके हैं वह (सोमस्य मदे) सोम पान की मस्ती में आह्वान कर रहा है (युवा) तुम दोनों जब (दधीच· मनः) दधीचि के मन को (आविवासथ) परिचर्या द्वारा अनुकूल करते हो तब (आश्व्यं शिरः वां प्रतिवदत्) वह अश्व सम्बन्धि शिर तुम दोनों

को मधुविद्या व प्रवर्ग्य विद्या का ज्ञान देता है।

गुन-गुन ध्वनि करती हुई मधुमक्खी एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जो अनवरत भ्रमण करती है वह आश्विन शक्ति की ही प्रेरणा है। ध्यान की पराकाष्ठा में पहुंच कर दोनों चक्षुओं, दोनों श्रोत्रों व दोनों नाकों में प्रतिष्ठित अश्वियों को अश्व सम्बन्धी शिर द्वारा मधु-विद्या व प्रवर्ग्य-विद्या का ज्ञान हो जाता है। परिचर्या द्वारा दधीचि के मन को अनुकूल बनाना यह कोई विशिष्ट प्रक्रिया है अथवा आलंकारिक वर्णन है।

कण्ववंशी ऋषि

वेदों में कण्ववंशी ऋषियों का वर्णन आता है। इन में कई ऋषि तो केवल मन्त्रद्रष्टा के रूप में सूक्त के आदि में दिये गये हैं, परन्तु कई ऋषियों का नाम व वर्णन मन्त्रों में भी आया है। इस वंश का प्रारम्भिक ऋषि कण्व है यह इस वंश के कण्व नाम से ही स्पष्ट है। इसलिये कण्ववंशी ऋषियों के स्वरूप निर्णय के लिये सब से प्रथम हमें कण्व पर विचार करना चाहिये। परन्तु वेद में हमें कण्व के पिता का भी नाम मिलता है, इसलिये पूर्ण स्पष्टी करण के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि कण्व के पिता पर भी कुछ विचार कर लिया जाये। कई विद्वानों का यह कहना है कि कण्व नाम के अनेक ऋषि समय-समय पर हो चुके हैं। अत उन के पिताओं के नाम भी वैदिक साहित्य में हमें मिलते हैं। उदाहरणार्थ---कण्व नार्षद[१] कण्व श्रायस[२] कण्वा सौश्रवसाः[३] कण्व-

---

१. ऋ० १०। ३१। ११

२. तै० सं० ५।४।७।५ काठ, २१।८, मै० सं० ३। ३। ६

३. काठ, सं० १३। १२

घौर १ आदि।

अब विचारणीय यह है कि क्या यह एक ही कण्व है, जिसको कि विभिन्न गुणों, व विशेषताओं के आधार पर विभिन्न विशेषण दे दिये गये हैं या समय-समय पर होने वाले ये कण्व नाम के कई ऋषि हैं? इस तथ्य के निर्णय के लिये अब हम कण्वों के पिता कहे जाने वाले इन नृषत् आदि शब्दों पर विचार करते हैं।

कण्व का पिता नृषतः—

वेदों में नृषत् का बहुत वर्णन नहीं है। चारों वेदों में केवल चार मन्त्रों२ में ही नृषत् यह पद प्रयुक्त हुआ है। इन चार मन्त्रों में भी केवल एक मन्त्र में ऐसा निर्देश मिलता है जहां कि कण्व को 'नृषत्' का पुत्र३ बताया गया है। इस से यह स्पष्ट है कि वेदों की दृष्टि में कण्व की अपेक्षा

१. ऋ० १।३७ आदि सूक्तों का ऋषि
२. यजु० ६।२, १०।२४, ऋ० ४।४०।५
यजु० १७।१२, ऋ० १०।३१।११
३. उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहु. ऋ० १०।३१।११

नृषत् का विशेष महत्व नही है। इसलिये नृषत् से गोत्र न चलाकर कण्व से गोत्र चलाया है। कुछ स्थलों पर कण्व के विशेषण रूप मे 'नार्षद' पद का भी प्रयोग हुआ है। परन्तु स्वय नृषत् के स्वरूप स्पष्टीकरण मे इस से अधिक सहायता नही मिलती। वह केवल कण्व का पिता है।

नृषत् विशिष्ट व्यक्ति नहीं है

अब विचारणीय यह है कि इन चार मन्त्रों द्वारा नृषत् के सम्बन्ध मे हमे क्या पता चलता है? तीन मन्त्रों मे प्रयुक्त नृषद शब्द व्यक्ति वाची नही है ऐसा हम निश्चय से कह सकते हैं। क्योंकि इन तीन मन्त्रों मे नृषत् के अतिरिक्त तत्सदृश शब्द और आये हैं जो कि यह सिद्ध करते हैं कि ये सब यौगिक हैं। उदाहरण के रूप मे कुछ शब्द इस प्रकार हैं।

ध्रुवसद्, मन.सद्, अप्सुषद्, घृतसद्, व्योमसद्, पृथिविषद्, अन्तरिक्षसद्, दिविषद, देवसद् नाक-सद्, इत्यादि।

इन उपर्युक्त पदों मे प्रत्येक को हम दो भागों में विभक्त करसकते है यथा–पृथिवि+सद्, अन्त-

रिक्ष + सद् आदि । जिन मे सद् यह सामान्य रूप से सब मे आया है, जिसका अर्थ है बैठना या विराजमान होना । अब यदि हम इन शब्दों के अर्थ करे तो यह कह सकते हैं कि 'पृथिविसद्' पृथिवी पर विद्यमान, 'अन्तरिक्षसद' अन्तरिक्ष मे विद्यमान, 'दिविषद्' द्युलोक मे विराजमान और नृषत् मनुष्य मे विद्यमान इत्यादि । जिस प्रकार ये सब शब्द स्पष्ट रूप से यह निर्देश कर रहे हैं कि ये किसी व्यक्ति विशेष के नाम नही हैं तो इसी प्रकार इन मन्त्रों मे प्रयुक्त नृषद् = नृ+सद् शब्द भी साहचर्य धर्म से बता रहा है कि यह भी किसी व्यक्ति का नाम नही है ।

अब हम उस मन्त्र पर विचार करते हैं जिस मे कण्व को नृषत् का पुत्र बताया गया है ।

इस सम्बन्ध मे सब से प्रथम हमे यह कहना है कि वेद मे आये पिता माता पुत्र आदि शब्दों को देख कर यह कल्पना करना कि यह मानवीय व्यक्तियों का वर्णन है ठीक न होगा । क्योंकि पिता पुत्रादि सम्बन्ध से वर्णन करना वेद की

अपनी निराली शैली है । दृष्टांत १ के रूप में बहुत कुछ दिखाया जा सकता है । भौतिक आदि शक्तियों में जो पूर्ववर्ती है वह पिता हो जाता है तो उत्तरवर्ती पुत्र । कारण पिता है तो कार्य पुत्र । किसी गुण शक्ति का मनुष्य में आधिक्य हो तो वह मनुष्य वेद की परिभाषा में उस गुण व उस शक्ति का पुत्र हो जाता है । इस प्रकार वेदों में कई दृष्टियों से पिता पुत्र आदि का प्रयोग हुआ है । इसलिये पिता पुत्र आदि सम्बन्ध वाचक शब्दों द्वारा निर्दिष्ट नृषत् व कण्व आदि शब्दों को व्यक्ति विशेष का नाम मानने में यह युक्ति सही नहीं है ।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह कही जा सकती है कि इस सूक्त में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्राकृतिक तत्वों का वर्णन प्रतीत होता है । प्रारम्भिक मन्त्रों में वह इतना स्पष्ट नहीं है परन्तु अन्त के ४,५ मन्त्रों में वह अत्यधिक स्पष्ट है । इसलिए प्रकरण की दृष्टि से इन मन्त्रों को अनित्य ऐति-

---

१. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् । सहसः सूनु., सहसस्पुत्र. ।

हासिक व्यक्तियों में न घटा कर प्राकृतिक क्षेत्र में ही घटाना चाहिये और फिर स्वयं मन्त्र भी इस बात की ओर निर्देश कर रहा है वि इस सूक्त मे पिता पुत्र आदि शब्द भौतिक शक्तियों में ही चरितार्थ हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में यह दिखाया जा सकता है कि इस नृषत् सम्बन्धी मन्त्र से पूर्व १ के मन्त्र में भी पिता पुत्र आदि शब्द आये हैं। उस स्थल पर सायणाचार्य ने पितृ व पुत्र शब्द से पितृ स्थानीय अरणियों व पुत्र स्थानीय अग्नि का ग्रहण किया है और मन्त्र को देखते हुए इसी हो क्षेत्र में इनकी सार्थकता प्रतीत होती है तो अब प्रश्न यह है कि अगले मन्त्र में पिता पुत्र आदि सम्बन्धों द्वारा निर्दिष्ट नृषत् व कण्व को हम किस क्षेत्र का माने ? प्रकरण तो यही बता रहा है कि ये नृषत् व कण्व आदि भी पिता पुत्र सम्बन्ध से भौतिक शक्तियां ही हैं या आध्यात्मिक शक्तिया हो सकती हैं, परन्तु अनित्य इतिहास को दर्शाने वाले मानव व्यक्ति नही हो सकते।

---

१ पुत्रो यत् पूर्वः पित्रोर्जनिष्ट शम्यां गौर्जगार यद्ध पृच्छान् ऋ० १० ३१।१०

जब पिता पुत्र सम्बन्ध से भौतिक शक्तियों का वर्णन चला आरहा हो तो अगले मन्त्र में "उत कण्व नृषद पुत्रमाहु." इस वाक्य के आधार पर नृषद् और कण्व नाम के मानव व्यक्तियो की कल्पना अप्रासगिक व प्रकरणविरुद्ध बात होगी। इसलिये न्याय्य यह है कि इस स्थल पर भी नृषद् और कण्व को प्राकृतिक शक्तियों में ही घटाया जाये। और फिर अनित्य इतिहास की सभावना तब हो सकती थी यदि नृषत् व कण्व के भौतिक अर्थ वेद में न होते। वेद में नृषत् व कण्व को अग्नि माना है। एक मन्त्र में आता है कि 'स इदग्निः कण्वतमः कण्वसखा' ऋ० १०।११५।५ अर्थात् वह अग्नि ही निश्चय से सर्व श्रेष्ठ कण्व है और कण्वों की सखा है। यहां पर सर्वश्रेष्ठ कण्व अग्नि को माना है। इसलिए वेद में नृषत् व कण्व आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं ऐसा हम निम्न हेतुओं के आधार पर कह सकते हैं—

(१) प्रकरण का विरोध होना।

(२) कण्व के साथ अतिशय अर्थ में तमप् प्रत्यय (Superlative Degree) का लगना (कण्वतम)

(३) नृषत् व कण्व के वेद में अग्नि अर्थ होना ।

इन हेतुओं से यह स्पष्ट सिद्ध है कि वेद में नृषत् कोई व्यक्ति नहीं है, इसलिये कण्व नामक किसी विशिष्ट व्यक्ति का यह नृषत् पिता नहीं हो सकता । अब हम 'श्रायस और सौश्रवस' शब्दों पर भी विचार करते हैं ।

श्रायस और सौश्रवस कण्व

यजुर्वेद का एक मन्त्र १ है जिस की व्याख्या उस की शाखा संहिताओं में मिलती है । व्याख्या का सार यह है कि– 'जिस प्रकार ग्वाला गौ को दुहता है उसी प्रकार कण्व भी अग्नि का दोहन करता है अर्थात् उस अग्नि के दोहन को जानता है ।'

दोहन अग्नि के उद्दीपन, प्रकटीकरण व उस

१. ता सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम् ।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां पयसा महीं गाम् । यजु० १७।७४
तै० सं० ५।४।७।५, काठक० २१।६, मै० सं० ३।३।६

के आविर्भाव को कहते हैं। अग्नि का यह दोहन व प्रकटीकरण कण्व किस प्रकार करता है? और उस में क्या रहस्य है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान हम आगे करने का प्रयत्न करेंगे। यहां हमें केवल यह देखना है कि मन्त्र एक ही है और शाखा सहिताओं की सभी व्याख्याओं का सार भी एक ही है। परन्तु कण्व के जो विशेषण आते हैं वे दो स्थलों पर एक दूसरे से भिन्न हैं। कई विद्वानों का यह मत हो सकता है कि ये विशेषण कण्व के पिता के नाम हैं। उदाहरण के तौर पर वे निम्न प्रकार हैं—

तमस्य कण्व एव श्रायसोऽवेत्।

तै० स० ५।४।७।५, काठक-२१।६

तं वै कण्वः श्रावयसोऽग्ने वोहं विदांचकार।

मै० स० ३।३।६

अर्थात् उस अग्नि के दोहन को श्रायस व श्रावयस कण्व ही जानता है।

ये श्रायस या श्रावयस दोनों कण्व के विशेषण हैं। पिता के नाम श्रेयस्, श्रयस् (श्रयसि भव १,

१. मौनियर विलियम्स।

श्रयसः १, पुत्र) या श्रवयस् ये हो सकते हैं। प्रश्न यह है कि श्रायस और श्रावयस जो कि कण्व के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुये हैं, क्या ये कण्व के पिता की ओर निर्देश करते हैं अथवा कण्व के किसी गुण व उस की किसी विशेषता की ओर निर्देश कर रहे हैं ? स्थूल दृष्टि से देखने पर ये दोनों ही बातें सम्भव हैं। कण्व की किसी विशेषता को बताने वाले विशेषण भी ये हो सकते हैं और कण्व के पिता भी कहे जा सकते हैं। परन्तु वेद की अन्तः साक्षी को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मानव रूप में इन को कण्व का पिता मानने में कई कठिनाईयां आ उपस्थित होती हैं, जो कि निम्न प्रकार हैं--

एक तो यह कि समकालीन संहिताओं में एक ही मन्त्र की व्याख्या मे इतने विभिन्न रूप वाले (श्रयस्, श्रवयस) दो नामों का आना इस बात

---

१. तैत्तिरीय संहिता (भट्ट भास्कर मिश्र कृत) ५।४।७।३४।
'श्रयसोऽपत्य श्रायस.' तै० स० ४। ६। ५ (सायण भाष्य)

का द्योतक है कि ये किसी एक व्यक्ति के नाम नही हैं। व्यक्ति वाची नाम मानने की अपेक्षा तो यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि इन्हें कण्व की किन्ही दो विशेषताओं को बताने वाले दो विभिन्न विशेषण मान लिया जाये।

दूसरी कठिनाई हमारे समक्ष यह है कि यदि दुर्जनतोष न्याय से यह मान भी लेवे कि ये कण्व के पिता हैं तो भी निश्चित, रूप से हमें यह स्वीकार करना पडेगा कि कण्व गोत्र के प्रवर्त्तक पूर्वभावी कण्व के ये पिता नही हैं। क्योंकि ये विशेषण केवल यजु: शाखा सहिताओं के हे जो कि ऋग्वेदादि सहिताओं से अर्वाचीन हे। इस लिये ऋग्वेद में वर्णित कण्व के ये पिता कैसे हो सकते हे ? उस अवस्था में तो ये कण्व के पिता माने जा सकते थे जब कि ऋग्वेद में कण्व के पिता का निर्देश न होता। वहा स्पष्ट तौर पर नृषत् को कण्व का पिता माना है और इन श्रयस व श्रवयस का सम्पूर्ण ऋग्वेद में सकेत तक नही। इस लिये यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि कण्व गोत्र के प्रवर्त्तक पूर्व भावी कण्व के ये पिता नहीं है।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि ये पूर्व भावी कण्व के पिता नहीं हैं तो पश्चाद् भावी किसी कण्व के पिता होंगे। इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि वेदों में जितने भी कण्ववंशी ऋषियों के नाम व वर्णन आते हैं उन में श्रयस व श्रवयस नाम के कोई भी ऋषि नहीं हैं। इस पर यदि यह कहा जाये कि यह आवश्यक नहीं कि एक गोत्र के सभी ऋषियों का वर्णन वेदों में आ गया हो। और यह भी सम्भव है कि प्रमुख ऋषिओं का ही वर्णन वेदों में हो, अथवा श्रयस व श्रवयस ऋषि कोटि में न पहुंचे हों, इस लिये इन का संकेत मात्र ही पर्याप्त समझा गया हो इत्यादि युक्तियों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पश्चाद् भावी किसी कण्व के तो ये पिता हो ही सकते हैं। इस सम्बन्ध में हम शाखागत मन्त्र की उस व्याख्या पर विचार करते हैं जहां कि ये विशेषण के तौर पर प्रयुक्त हुए हैं।

'ता सवितु' (यजु० १७।७४) इस मन्त्र की व्याख्या में कण्व का काम अग्नि का दोहन व उद्दीपन आदि बताया गया है और साथ में 'एव' पद लगा कर यह भी निश्चित कर दिया है कि

अग्नि का दोहन यदि कोई जानता है तो कण्व ही जानता है। इस से यह परिणाम निकलता है कि अग्नि का दोहन इस कण्व के अतिरिक्त और कोई नही जानता। परन्तु वेदों के आधार पर यह नही कहा जा सकता। ऋग्वेद मे कण्ववशी ऋषि मेधातिथि के लिए कहा गया है कि 'यमग्नि मेध्यातिथिः कण्व ईध ऋतादधि'। ऋ०१।३६।११।

अर्थात् मेध्यातिथि कण्व ऋत से अग्नि को प्रदीप्त करता है। इसी प्रकार अन्य सब कण्वों के लिये आता है 'आ त्वा कण्वा अहूषत' ऋ. १।४२।२ अर्थात् हे अग्नि ! सब कण्व तुझे आह्वान करते है। और फिर पूर्व भावी कण्व तो स्वय अग्नि रूप है और दूसरे नम्बर पर अग्नि का सखा है। इसी प्रकार और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन सब प्रमाणोंके होते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि पश्चाद् भावी कण्व ही अग्नि का दोहन जानता है।

वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस यजुर्वेदीय मन्त्र में भी ऋग्वेद में वर्णित कण्व के सम्बन्ध मे ही कहा गया है। मन्त्र में किसी प्रकार के विशेषण नही हैं। ये विशेषण शाखा सहिताओं

में हैं और उन के भी ब्राह्मण भाग में हैं। प्रतीत यह होता है कि तात्कालिक ऋषियों ने मन्त्र की व्याख्या करते हुये कण्व की कुछ विशेषताए देखी होंगी। उन्हीं विशेषताओं को सामने रख कर कण्व को विशेषण दे दिये हैं। इन विशेषताओं को हम आगे स्पष्ट करेंगे।

इसी प्रकार काठक संहिता १३।१२ मे कण्वों को सौश्रवस कहा गया है। वहा आता है कि 'तामेतां कण्वा सौश्रवसाः विदु' अर्थात् उस सरस्वती वाक् को सुश्रवस सम्बन्धी कण्व जानते हैं। यह सौश्रवस शब्द वेदों में अनेकों स्थलो पर आता है। परन्तु कण्वों का विशेषण हो कर कृष्ण यजु की काठक शाखा में ही आया है। वेदों मे भी जहां यह शब्द आता है उन स्थलों को देखने से यह प्रतीत होता है कि सौश्रवस पद यौगिक है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल निम्न प्रकार हैं—

ता नृभ्य आ सौश्रवसाः सुवीराः।

ऋ० ६।१३।५।

त्वयाजि सौश्रवसं जयेम।

अथ० २०।८७।४।

त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति ।

ऋ० १।१६२।३ ।

पृङ्क्त रयिं सौश्रवसाय देवा. ।

ऋ. ६।६८।८ ।

इसी प्रकार काठक सहिता में कण्वों का विशेषण हो कर आया हुआ सौश्रवस शब्द भी यौगिक है। जैसा हम पहले लिख चुके हैं और आगे भी विस्तार से दिखलायेंगे कि नृषत् व कण्व आदि अग्नि के विभिन्न रूप है इसी प्रकार 'सुश्रव' शब्द भी अग्नि का वाचक है। पार० का०२। क ४। १। २ में आता है।

'आग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु। ओं यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि। ओं एवं मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु।'

अर्थात् हे अग्नि! तू सुश्रवस है मुझे भी सुश्रवस या सौश्रवस बनादे।

इस लिये हमें यह प्रतीत होता है कि काठक संहिता में कण्वों के विशेषण रूप में जो सौश्रवस पद आया है वह कण्वों का पैतृक नाम नहीं है, वह तो केवल उन की विशेषता बता रहा है।

घोर कण्व

'बृहद्देवता' व 'सर्वानुक्रमणी' में कण्व को घोर ऋषि का पुत्र बताया गया है। सूक्तों के आदि में जो मन्त्रद्रष्टा ऋषि दिये गये हैं, उन में भी कुछ सूक्तों का ऋषि 'घौर कण्व' है। बृहद्-देवता आदि के कथनानुसार तो घोर कण्व का पिता है परन्तु चारों वेदों में किसी भी मन्त्र मे कण्व के पितृ रूप में घोर का वर्णन नही है। इसलिए यह विचारणीय हो जाता है कि घोर को कण्व का पिता माने या न माने। हमें यह प्रतीत होता है कि बृहद्देवताकार ने अनित्य व ऐतिहासिक घोर व कण्व व्यक्तियो को वेदों पर ऋषि रूप में थोप दिया है। अथवा यह भी सम्भव हो सकता है कि नार्षद, श्रायस, सौश्रवस आदि के समान 'घौर' भी कोई कण्व का विशिष्ट गुण हो। इस लिए यह अभी विचारास्पद ही है। इस पर फिर कभी विचार किया जायेगा।

नृषत्

हम ऊपर इस सम्बन्ध में यह विचार अभि-व्यक्त कर चुके हैं कि वेदों में नृषत्, श्रायस, सौश्रवस, तथा कण्व आदि नाम ऐतिहासिक व्यक्तियों के नहीं हैं। इन का प्रतीयमान व्यक्ति-

रूप आलंकारिक है। और यह भी हम देख चुके कि वेद में कण्व का पिता स्पष्ट रूप से नृषत् को ही माना गया हैं। अन्य शाखा संहिताओं में कण्व के श्रायस सौश्रवस आदि जो विशेषण दिये गये हैं, उन पर भी संक्षेप में हमने अपने विचार अभिव्यक्त किये। अब हम नृषत् के ऊपर विचार करते हैं और यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि कण्व की दृष्टि से इस का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

नृषत् का व्युत्पत्ति-लाभ्य अर्थ है "नरिसीदति या नृषु सीदति" मनुष्य में बैठा हुआ-मनुष्य में विद्यमान या मनुष्यों में मध्यस्थ। यह नृषत् का सामान्य अर्थ है। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य में वह कौनसी वस्तु व शक्ति है जिस को हम नृषत् कह सकते हैं ! इस सम्बन्ध में वेद की मान्यता यह है कि मनुष्य में अनेकों शक्तियां निवास करती हैं। अथर्व ११ का० ८ सू० में मनुष्य में निहित अनेकों शक्तियों का परिगणन हुआ है वहां आता है कि— 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते' अर्थात् इस देह में सब देवता इस प्रकार आ बैठे हैं जिस प्रकार गौशाला में गौएं आ बैठती हैं। इसी प्रकार देव-विरोधी आसुरी शक्तियां

भी इस पुनीत देह मे आ पहुंची हैं। इसीलिए विचारणीय यह है कि मनुष्य में सन्निहित आत्मा व परमात्मा आदि देवशक्तियों तथा आसुरी-शक्तियों में से 'नृषत्' नाम से किसे सम्बोधित किया जा सकता है ? इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि जिस किसी भी शक्ति को हम नृषत् नहीं कह सकते। 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' इस उक्ति के आधार पर मानव देह में ब्रह्माण्ड की सब शक्तियां अंश रूप मे विद्यमान हैं। पर इसमे देवशक्तियां कामवासना आदि आसुरी आवरणों से आवृत होने से शक्तिहीन हैं, और प्रसुप्त सी पड़ी हैं, उस के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य में वे शक्तियां होते हुए भी नहीं हैं। इस लिए नृषत् क्या है ? यह प्रश्न वैसा का वैसा ही बना रहता है। प्रसग से हम इतना और सकेत कर देना उपयुक्त समझते हैं कि केवल मात्र निर्वचन व यौगिकवाद पूर्ण रूप से किसी शब्द की इयत्ता व पूर्णार्थता में साधन नही होता। इस के साथ और भी कई साधन हैं जिन का हमें सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार नृषत् के केवल निर्वचन से ही हम नृषत् के वास्तविक अर्थ व गम्भीर रहस्य को स्पष्ट रूप

से समझ लेवें, यह असम्भव है। इस के लिए हमें आध्यात्मिक अधिभूत आदि अन्य विवेचनों के साथ दिव्य दृष्टि ऋषियों के शास्त्रों का भी सहारा लेना पड़ेगा। और यह देखना होगा कि उन्होंने नृषत् के वास्तविक स्वरूप निर्णय में क्या कसौटी रखी है? शास्त्रों में नृषत् के निम्न अर्थ आये हैं–१–प्राणाग्नि, २–अग्नि, ३–रथ, ४–आदित्य, ५–प्रजाओं में मध्यस्थ, ६–वाज (सोम)।

---

१ प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद् योऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतत् प्रीणाति। श० प० ६।२।१।८,६।७।३।११।

२ मै० स० ३।२।१, तै० स० ४।२।१।५।

३. हृस: शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसदिति रथं वा एतत् परिवदति। मै० सं० ४।४।६, श. प. ५।४।२।२२-२३।

४ ऐ० ब्रा० ४।२०।

५. नृषदन्त्वेत्याह। प्रजा वै नॄन् प्रजानामेवैतेन सूयते। तै० ब्रा० १।३।६।१।

६. ध्रुवसदस्त्वा नृषद मनःसदं० यजु० ६।२, श.प. ५।१।२।४।

इस प्रकार नृषत् शब्द के क्षेत्रभेद से ये भिन्न-भिन्न अर्थ हुये हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो सब अर्थ अग्नि व प्राणाग्नि में घटाये जा सकते हैं। जन-समुदाय में नृषत् वह व्यक्ति हो सकता है, जो कि अपनी प्रबल प्राणशक्ति के कारण मनुष्यो का मध्यस्थ बना है। इसलिए तैत्तिरीय ब्राह्मण में नृषत् प्रजाओं का मध्यस्थ व्यक्ति माना गया है। यह प्राणाग्नि मनुष्य देह को उठाये हुए है अथवा इस प्राणाग्नि की प्रबलता मनुष्य को अपने अभीष्ट मार्ग पर भगाये चलती है। इसलिए रथ भी इसे कह दिया गया है। इस प्राणाग्नि की प्रबलता से मनुष्य में वेग भी पैदा होता है इसलिए वाज भी इसे कहा गया है। और आदित्य तो प्राणशक्ति का भण्डार है ही। इस प्रकार वैदिक साहित्य में प्रतिपादित नृषत् के सब अर्थों का सामञ्जस्य दिखाया जा सकता है। इन सब अर्थों में एक सूत्र पिरोया हुआ दृष्टिगोचर होता है और वह तैत्तिरीय ब्राह्मण के आधार पर मध्यस्थता का है। अर्थात् जो शक्ति मनुष्य में मध्यस्थ बनी हो और प्रबल वेग (वाज) से मनुष्य को अभीष्ट मार्ग पर भगाये चलती (रथ) हो वह

प्राणाग्नि का अत्यन्त वृद्धिगत रूप ही हो सकता है। अतः नृषत् से इसी प्रकार की प्रवृद्ध, जागरूक व प्रबल शक्ति वाली प्राणाग्नि का ही ग्रहण करना चाहिए। सामान्य प्राणाग्नि का नही। क्योंकि सामान्य प्राणाग्नि को वाज, मध्यस्थ, आदि शब्दो से कभी भी सम्बोधित नही किया जाता। प्राचीन ऋषियों व भाष्यकारो ने भी नृषत् नामक प्राणाग्नि से सामान्य अग्नि का ग्रहण नही किया, अपितु उसके वृद्धिगत रूप का ही ग्रहण किया है। सायणाचार्य अपने शतपथ ब्राह्मण के भाष्य मे लिखते हैं—

एतानि नृषदित्यादीनि अस्यैव संचिताग्नेर्नामानि ॥ श. प. ६।१।२।६।

अर्थात् ये नृषद् इत्यादि नाम सचित अग्नि के ही हैं। सचित अग्नि वह है जिस का मनुष्य में निरन्तर सचय होता रहे और वह स्थिर रहे। साधारण मनुष्य की अग्नि प्रजोत्पत्ति आदि सासारिक कार्य व्यवहारों में तथा अन्य बहिर्मुखी वृत्तियों के आधार पर विनष्ट होती रहती है। अतः यह सामान्य प्राणाग्नि नृषत् नाम से नही

कही जा सकती है। नृषत् शब्द मे नृ+सद् ये दो अवयव हैं। सद् का अर्थ बैठना ही नही है, पर बढ़ाना व उन्नत करना भी है।

मैत्रायणी सहिता मे आता है कि–'हसःशुचिषद्वसुरन्तरिक्षसदिति। सप्त एवैन होत्रासु प्रतिष्ठापयत्यथो सप्त वा एतेन साप्तान्यग्ने ऋध्नोति। मै. स. ३।२।१ अर्थात् सप्तहोताओं में इस अग्नि को प्रतिष्ठापित करता है। अग्नि के ये सात रूप हैं जो कि मस्तिष्क के सप्त केन्द्रों में होते हैं। अग्नि के इन सातो रूपो को वह बढाता है।

इस प्रकार हमने नृषत् के ऊपर सक्षिप्त विचार किया। मन्त्रो से हमें इस के किमी विशेष कार्य व स्वरूप का ज्ञान नही होता। 'हस' शुचिषत् वसुरन्तरिक्षसत्' आदि मन्त्रो में पठित तत्सदृश शब्दो के सहचार से यही ज्ञात होता है कि एक ब्रह्माण्ड व्यापिनी प्राणशक्ति है जो कि इस त्रिलोक में सर्वत्र अभिव्याप्त है। इसी को वेद में अग्नि नाम से कहा गया है जो कि मानव देह में नृषत्

नाम से कही जाती है। मानव देह मे भी इस का नृषत् नाम एक विशिष्ट प्रयोजन से है, और वह शरीर का नेतृत्व करने वाले अगो में विद्यमान होने के कारण है। नेतृत्व में चेतना आ जाती है अर्थात् जिन अगो से चेतना का कार्य व प्रकाश हो वे 'नृ' व नेतृ शब्द से ग्रहण किये जा सकते हैं। नेतृत्व करने वाले वे अग इन्द्रिया, मन व बुद्धि हैं क्योकि इन में चेतना का अश विद्यमान है। अत इन में विद्यमान अग्नि को नृषत कहेंगे। इसलिये नृषत् सामान्य प्राणाग्नि का वह रूप है जो चेतनायुक्त है और ज्ञान प्राप्ति के लिये करण व साधन हैं। और नृषत् से ऐसे व्यक्तियो का ग्रहण होगा जो कि ज्ञानोपलब्धि के हेतुभूत अगो में सदा वास करते हैं। मानव देह में आ कर यह नृषत् नामक अग्नि अनेकों शाखा-प्रशाखाओ में विभक्त हो जाती हैं जो कि कण्व वशी ऋषियों के रूप में वर्णित हुई है।

कण्व

अब विचारणीय यह है कि कण्व नामक अग्नि का क्या स्वरूप है ? इस के निर्णय के लिए सब से पूर्व हम कण्व शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार

करते है। कण्व शब्द 'कण्' धातु से बना है। धातु पाठ में कण् नाम से कई धातुओं का परिगणन हुआ है जो कि इस प्रकार है--

१ कण् निमीलने-आंख मीचना।
२ कण् शब्दे-कणति शब्द कर्मा।
३ कण् आर्तनादे-
४ कण् गतौ-
५ कणति स्थूल रूपात् क्रमशो गच्छति, अत्यन्त सूक्ष्मता प्राप्नोति।
६ कण्व-पाप कण्यते अपोद्यते।

कण्व के स्वरूप निर्णय के लिए ये उपर्युक्त धातुएं व अर्थ हमने ऊपर प्रदर्शित किए हैं। अब प्रश्न यह है कि नृषन् नामक अग्नि का पुत्र कण्व किस धातु से निष्पन्न किया जाना चाहिये? इस का निर्णय वेद मन्त्रों में वर्णित कण्व के विशेषणों व उस के कार्यों पर विचार करने से हो सकता है। अतः अब हम कण्व सम्बन्धी मन्त्रों के आधार पर विचार करते है। इस से पूर्व कि हम कण्व सम्बंधी कुछ विशिष्ट मन्त्रों को यहां प्रस्तुत करें तत्सम्बंधी

वेदमन्त्रों व कथानकों पर दृष्टिपात करने से हम जिस परिणाम पर पहुचते हैं, उस का पूर्वकथन के तौर पर संक्षिप्त चित्र पाठकों के समक्ष रख देना चाहते हैं जिस से कि कण्व सम्बन्धी मन्त्रों में अन्तर्निहित गूढ रहस्य स्पष्ट होता जाये और पाठकों के हृदयपटल पर अङ्कित होता जाये।

नृषत् मनुष्य की वह आन्तरिक अग्नि है जो कि ज्ञानोपलब्धि के हेतुभूत अन्तःकरणों में प्रवृद्ध रूप में विद्यमान होती है। इस नृषत् से अगली अवस्था कण्व की है। अतः हम यह कह सकते हैं कि यह कण्व भी अग्नि का ही एक रूप है, जैसा कि मन्त्र में कहा भी है 'स इदग्निः कण्वतम कण्व-सखा' अर्थात् यह अग्नि निश्चय से सर्व श्रेष्ठ कण्व है और कण्व का सखा है। अन्तःकरणो में प्रवृद्ध यह अग्नि जब नये-नये दिव्य सदेश सुनने लगती है, और दिव्य वचन बोलने लगती है–तब इसे कण्व कहते हैं। इस दृष्टि से 'कण शब्दे' धातु से कण्व निष्पन्न किया जा सकता है। यह कण्व अग्नि जब विभिन्न क्षेत्रों के नवीन-नवीन दिव्यज्ञानों का

अवतरण कराती है, तब वह कण्व पुत्रों के रूप में कहलाती है। मन्त्रों में सभी कण्वों का एक साझा व प्रमुख कार्य यह बताया है कि ये सब कण्व मानव बुद्धि को प्रवृद्ध व समुन्नत करने वाले है (ऋ. ८।६।३१)। अत यह कण्व नामक अग्नि इन्द्रियों में दिव्य ज्ञान के अवतरण के लिए अपने को जिस-जिस अवयव से सम्बद्ध करती है, उस २ अवस्था में उस के भिन्न-भिन्न नाम होते है, जिन को कि कण्व पुत्रों के नाम से कहा जाता है। प्रकृति के क्षेत्र मे व अध्यात्म क्षेत्र में नये २ आविष्कार करने वाले विद्वानों की मेधाबुद्धि में अचानक रहस्य का स्पष्टीकरण होना कण्व की ही एक अवस्था का द्योतक है जिसे कि वेद में मेधातिथि व मेध्यातिथि सज्ञा दी गई है। अब हम कण्व पर विचार करते हैं।

कण्व के दो रूप

कण्व के दो रूप है, एक पूर्व रूप और दूसरा उत्तर रूप। कण्व का पूर्व रूप अन्धा और बहरा है। इस अन्धत्व व बधिरत्व की दो दृष्टियों से

व्याख्या की जा सकती है। एक बाह्य दृष्टि से और दूसरी आन्तरिक दृष्टि से। बाह्य ससार की दृष्टि से तो यह कहा जा सकता है कि प्रवृद्ध अग्नि वाला व्यक्ति अपने ध्येय में इतना तल्लीन होता है कि वह अपने चहु ओर के दृश्यों पर न तो दृष्टि-पात करता है और ना ही बाह्य शब्दो में रस लेता है। एक प्रकार से वह अन्धा व बहरा होता है। आन्तरिक दृष्टि से कण्व के अन्धे व बहरे होने का भाव यह हो सकता है कि वह प्रारम्भ में दिव्य दर्शन व दिव्य श्रवण में असमर्थ होता है। कण्व के इसी पूर्व रूप अर्थात् प्रकृति व परमात्मा सम्बन्धी अन्धत्व व बधिरत्व को मन्त्रों व कहानियों में विस्तृत रूप में चित्रित किया गया है।

अब हम क्रमश कण्व सम्बधी मन्त्रों द्वारा एक-एक विषय पर विचार करते हैं, और कण्व के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करते हैं।

बधिर कण्व को अश्वियों द्वारा श्रवणेन्द्रिय का दान--

मन्त्र में आता है कि अश्विदेवों ने बहरे कण्व

को श्रवण-शक्ति प्रदान की। मन्त्र इस प्रकार है–

प्रवाच्यं तद् वृषणा कृतं वां यन्नार्षदाय श्रवो-अध्यधत्तम्।

ऋ० १ ११७।८

(वृषणा) सुख की वर्षा करने वाले हे अश्वियों ! (वां) तुम दोनों ने (तत् प्रवाच्य कृत) वह प्रशसनीय कार्य किया (यत्) कि (नार्षदाय) नृषत् के पुत्र कण्व को (श्रव अध्य-धत्तम्) श्रवणेन्द्रिय दान की।

वेद में ऐसा कहीं नहीं आता कि कण्व बहरा था परन्तु मन्त्र में जो श्रवणेन्द्रिय दान का विधान है, इससे आचार्यों ने उसे बहरा मान लिया। परन्तु यह बहरापन उसका दिव्य सन्देशों के प्रति है। सामान्य श्रोत्रेन्द्रिय की दृष्टि से कण्व बहरा नहीं है। यह तत्सम्बन्धी कथानकों से भी स्पष्ट है।

अन्धे कण्व को दृष्टि शक्ति का दान––

युवं कण्वायापिरिप्ताय चक्षुः प्रत्यधत्तम्।

ऋ० १।११८।७

**युव कण्वाय नासत्यार्ऽपिरिप्ताय हर्म्ये शश्व-
दूतीर्दशस्यथ· ।**

ऋ० ८।५।२३

प्रदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय ।

ऋ० १।११७।८

हे अश्वियो ! (युव) तुमने (अपिरिप्ताय कण्वाय) आखों पर लेप किये हुये कण्व को (चक्षु प्रत्यधत्तम्) दृष्टि शक्ति धारण करायी।

(नासत्या) हे नासत्यो ! तुम आंखों पर लेप किये गये और (हर्म्ये) अन्धकार युक्त कोठरो में पड़े हुए कण्व को दृष्टिशक्ति प्रदान कर (शश्वत्) निरन्तर (ऊतीर्दशस्यथ) उसकी रक्षा करते हो।

इन उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट झलकता है कि कण्व को अश्वियों द्वारा दृष्टिशक्ति व श्रवण शक्ति प्रदान की गई । इसी बात को कथानक प्रिय ऋषियों ने आख्यानरूप में अत्यन्त रोचक ढग से अलंकृत किया है । यहां यह बात अवश्य ध्यान में रखने योग्य है कि वेदों के गूढ़ रहस्यों

को आख्यान द्वारा स्पष्ट करने मे व उनको समझने में तात्कालिक ऋषियो व विद्वानों को कोई असुविधा न होती थी उनके लिये वे दुरूह न थे। वैदिक युगीन परम्परा के उच्छेद हो जाने से ये वेदमन्त्रों के रहस्य व आख्यान शैली हमें अत्यन्त दुर्बोध प्रतीत होती है और हमें कही का कही ला पटकती है। परन्तु उसका यह तात्पर्य नही कि हमे इन्हें समझने का प्रयत्न नही करना चाहिये।

अन्तिम मन्त्र भाग की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य लिखते हैं--

अपि च क्षोणस्य क्षोणाय यो दृष्टिराहित्येन गन्तुमशक्त: सन्नेकस्मिन्नेव स्थाने निवसति तस्मै कण्वाय ऋषये महस्तेजस्तैजसं चक्षुरिन्द्रियमदत्त-मिति।

अर्थात् अन्धा होने के कारण से जो एक स्थान से हिल नहीं सकता था, उस कण्व ऋषि को अश्वियों ने तैजस चक्षु प्रदान की। क्षोण शब्द का सायणाचार्य ने शब्दकारी वीणाविशेष भी अर्थ किया है। इससे श्रवणेन्द्रिय दान का भी तात्पर्य

निकल सकता है। इस उपर्युक्त मन्त्र (ऋ० १। ११७।८ के भाष्य मे सायणाचार्य ने एक कथानक दिया है, जो कि शाट्यायनकों का है। वह कथानक इस प्रकार हैं--

"१नृषत् के पुत्र कण्व ऋषि ने वकासुर की दुहिता का पाणिग्रहण किया। उनके त्रिशोक और

१ अत्र शाट्यायनकम्। कण्वो वै नार्षदो बकस्यासुरस्य दुहितरमविन्दत। तस्या हास्य त्रिशोकनाभकौ जज्ञाते। सा ह क्रुद्धा ज्ञातीनाययौ। ता ह्रान्वाजगाम। त हासुरा अवलेपेन अवलिम्पन्त ऊचु। अत्र व्युष्टा विजानीहि यदि ब्राह्मणोऽसीति। तदु हाश्विनावनुबुबुधाते। अश्विनौ हि देवाना बद्धमुचौ। तौ हैनमदृश्यमाना उपेत्योचतु र्यदैव त्वाव वीणा समाघ्नन्ता उपर्युपर्यतिपतावोऽथ व्युष्टा विजानीतादित्युक्त्वा हाथ हैतौ वीणां समाघ्नन्तावुपर्युपर्यतिपेततुः। स होवाचापहरतेदम्। एतर्हि यावद् युङग्ध्व सीराणीति। ते होचुः ब्राह्मणो वायमृषिरास, उप ह वास्य जाया। हन्तास्मो हेमा ददामेति। ता हास्मै ददु।

नभाक ये दो पुत्र उत्पन्न हुए । वह कभी किसी कारण कण्व से क्रुद्ध हो कर अपने सम्बन्धियों के पास जा पहुची । वह कण्व भी उसके पीछे-पीछे आ पहुचा । असुरों ने उसकी आखों पर लेप कर उसे किसी अन्धेरी कोठरी मे डाल दिया । और बोले यदि तू सच्चा ब्राह्मण है, और ऋषि है तो उषाकाल को जान । यह बात अश्वियों को पता लगी । देवो को बन्धनों से छुडाने वाले अश्वी अदृश्य रूप मे इसके पास पहुचे और बोले कि जब हम वीणा बजाते हुए ऊपर से गुजरे तो समझ लेना कि उषाकाल हो गया । इस प्रकार उषाकाल आने पर वीणा को बजाते हुये वे अश्वी ऊपर से गुजरे । तब कण्व उन असुरो से बोला कि उषाकाल हो गया है. इससे पूर्व कि तुम हल जोतो मेरा यह आखों का लेप दूर कर दो । वे असुर बोले कि इसने उषाकाल ठीक बताया है यह सच्चा ब्राह्मण है और ऋषि है। बकासुर की दुहिता इसकी पत्नी होने योग्य है । इसे अब यह दे देनी चाहिये। इस प्रकार उन्होने वह बकासुर की दुहिता उसे ही दे दी ।

इस कथानक में कई बातें विचारणीय हैं।

इनकी विस्तृत व्याख्या तो यहां सम्भव नही है परन्तु कथानक का संक्षिप्त भाव निम्न प्रकार है–

कण्व प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि है, वह कुछ बोलना चाहती है। बकासुर (बक+असुर वाक+असुर) की दुहिता आन्तरिक वागिन्द्रिय है। इन दोनों के सम्पर्क से त्रिशोक और नभाक ये दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। त्रिशोक और नभाक क्या हैं, इनका विवेचन हमने अन्यत्र किया है। संक्षेप में यहां इतना ही कहना है कि–त्रिशोक (त्रिषु शोकः शुक् शुचिता–त्रिशुक् एव त्रिशोक) से मनुष्य के सिर, हृदय तथा उदर अंगो में शुद्धता, पवित्रता दीप्ति आदि पैदा होती।

दूसरी नभाक की स्थिति है। नभाक ('नभ हिंसायाम्' 'नभन्तामन्यके समे' या 'मा भूवन्नन्ये सर्वे') से शरीर में विद्यमान विरोधी बाते सब विनष्ट हो जाती हैं। विरोधी विचार बाहिर से आक्रमण न कर सके अर्थात् जिस समय मनुष्य अपने विषय में एकाग्र व तल्लीन होता है तब विषयान्तर विचार व अन्य विरोधी बाते न आ सकें इसके लिये आवश्यक है कि नभाक की स्थिति

पैदा हो जाय। परन्तु नभाक की स्थिति पैदा होने में त्रिशोक सहायक बनता है। वह इस प्रकार कि शरीर, हृदय व उदर आदि में यदि कोई विकार हो, इन तीनों में मल सचित हो तो उस समय एकाग्रता तन्मयता और उससे ज्ञान का स्फुरण नही रहता। क्योंकि ये सब बाते स्वच्छ व नीरोग शरीर, शान्त व निर्मल मन में ही सम्भव हैं। जब किसी ज्ञानेन्द्रिय पर तन्मयता की अवस्था होती है– दूसरे शब्दों में सयम की अवस्था होती है तब कण्वाग्नि से प्रेरित हो वह इन्द्रिय बोलती है। और यदि किसी कारण तन्मयता न रहे तो उससे ज्ञान का स्फुरण बन्द हो जाता है और वहा विद्यमान वाक्‌शक्ति बोलना बन्द कर देती है। एक प्रकार से वाक्-शक्ति (बकासुर दुहिता) ज्ञान को आवृत करने वाले असुरो के पास जा पहुचती है। यही वाक्-शक्ति अर्थात् बकासुर दुहिता का सम्बन्धियो के पास पहुचना है। उस अवस्था में ज्ञानाग्नि (कण्वाग्नि) पर एक प्रकार से आवरण छा जाताहै, अवलेप हो जाता है। दिव्य दर्शन व दिव्य श्रवण सब समाप्त हो जाते हैं, यह कण्व

का पूर्व रूप है। परन्तु जब सिर और हृदय दोनों सयुज अर्थात् सयुक्त हो कर अश्वी रूप को धारण करते हैं, तब कण्वाग्नि फिर प्रदीप्त होती है। इस कण्वाग्नि के सामने दिव्य उषा फिर चमकने लगती है। और यह वाक् शक्ति फिर नये-नये रहस्यों को जताना शुरू करती है। यह कण्व का उत्तर रूप है। इस में दिव्य दृष्टि व दिव्य श्रवण शक्ति प्राप्त होती है। तदनन्तर मनुष्य की मेध्यातिथि व मेधातिथि अवस्था आती है अर्थात् उसकी मेधाबुद्धि में नये अतिथि प्रवेश करते हैं। यह हम मेध्यातिथि पर स्वतन्त्र रूप से लिखते हुए दिखायेंगे।

शाट्यायनकों का यह उपर्युक्त कथानक उस अवस्था का भी द्योतक है जबकि सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य की सब आज्ञावाहिनी और ज्ञानवाहिनी नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं और स्वप्नावस्था आने पर फिर चालू हो जाती हैं। इसका फिर चालू होना (सीरायुनक्त) असुरों द्वारा हल जोतना है। मन्त्रों के आधार पर कथानक का संक्षिप्त स्पष्टीकरण हमने किया। विद्वान् इस पर विचार करें। यह कुछ-कुछ स्वप्नावस्था के दर्शन व श्रवण

का भी चित्र प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार कथानक द्वारा दिव्य-दृष्टि की प्राप्ति का एक आलकारिक चित्र खीचा गया है, जब अश्वियो की कृपा से कण्व का अन्धत्व व बधिरत्व विनष्ट हो गया तो उस समय उसे जो दिव्य दृष्टि व दिव्य श्रवण शक्ति प्राप्त हुई उस का मन्त्रों में निम्न प्रकार से वर्णन हुआ है--

कण्व मे सर्वोत्कृष्ट श्रवण-शक्ति

अस्माक गिर उत सुष्टुति वसो कण्ववच्छृणुधी हवम। ऋ० ८।५२।८ (वसो) हे घट-घट के वासी इन्द्र ! (अस्माक गिर) हमारी पुकार (उत) और (सुष्टुति) उत्तम स्तुति तथा (हवम्) आह्वान को (श्रृणुधी) सुनो। किस प्रकार सुनो ? (कण्ववत्) कण्व की तरह सुनो।

भगवान् हमारी स्तुतियां व हमारे आह्वान को इस प्रकार आसानी से सुने जिस प्रकार कण्व सुनता है। यहां श्रवण के लिए उपमा रूप में कण्व को लिया गया है। इस से यह स्पष्ट है कि अश्वियों की कृपा से उस की बधिरता ही नष्ट नही हुई,

अपितु सर्वातिशायी श्रवण शक्ति भी उस में पैदा हो गई है। इसी दृष्टि से शाखा संहिताओं में कण्व को सौश्रवस कहा गया है। उपर्युक्त मन्त्र से एक शंका पैदा होती है कि भगवान् में तो सब ऐन्द्रियिक शक्तियों की पराकाष्ठा है तो फिर मन्त्र में आह्वान व स्तुति आदि के सुनने के लिए कण्व को आदर्श क्यों माना गया है? इस का समाधान हमें यही प्रतीत होता है कि यह मन्त्र कण्व की श्रवण शक्ति को मनुष्यों में सर्वातिशायी बताना चाहता है न कि प्रभु की शक्ति से। प्रसग से हम यहा मन्त्र में आये 'हव' तथा स्तुति शब्दों पर भी कुछ विचार करते हैं, क्योंकि ये दोनो शब्द एक सूक्ष्म व व्यापक अर्थ रखते हैं। हव मनुष्य द्वारा मुख से किए गये आह्वान को ही नहीं कहते, अपितु यह शब्द आह्वान, प्रेरणा, उत्तेजना, आकर्षण, मेल Harmony आदि कई भावों को अपने अन्दर समाविष्ट किए हुए हैं। जड़ जगत् में भी हव शब्द का प्रयोग हुआ है। वहा एक प्रकार से उत्तेजना Stimulation और प्रतिक्रिया Response व मेल Harmony का तात्पर्य है। एक मन्त्र आता है—

आपो वात पर्वतासो वनस्पतिः श्रणोतु पृथिवी हवम् । ऋ० ८.५४.४ । अर्थात् जल, वायु, पर्वत, वनस्पति और पृथिवी मेरे हव को सुने। इन प्राकृतिक पदार्थो को आह्वान करने का भाव यह है कि इन का हमारे शरीर के साथ सम्बन्ध है। ये सब तत्त्व हमारे अवयवों पर निरन्तर प्रभाव डालते रहते हैं, क्योंकि शरीर के प्राकृतिक घटको को प्रकृति के भण्डार से सदा मांग रहती है। और वह निरन्तर पूरी करता है। इस प्रकार यह आह्वान और प्रदान की प्रक्रिया प्रकृति के क्षेत्र में उत्तेजना और प्रतिक्रिया की प्रक्रिया है। अतः शारीरिक घटको की प्रकृति से जो माग है उसे वैदिक शब्दों में 'हव' कहते हैं। इस प्रकार अन्य सूक्ष्म से सूक्ष्म क्षेत्रों में भी 'हव' शब्द का प्रयोग होता है। दूसरा शब्द स्तुति है। यह भी विस्तृत अर्थ रखता है। स्तुति केवल मुख से उच्चरित स्तोत्र को ही नहीं कहते। अपितु मनुष्य के जिस अवयव की जिस से पूर्ति, तृप्ति व प्रीणन आदि होते हैं, वह अवयव एक गुह्य भाषा में उस प्रीणनकर्ता की स्तुति करता है। प्रीणनकर्ता के प्रति आकर्षण, माग, खुलना Opening आदि सब

भाव स्तुति में समाविष्ट हैं। अतः स्तुति स्तवन व प्रशंसा मुख से ही नहीं होती अपितु सब अंगों से होती है।

वाणी के अलंकरण में कण्व से उपमा

कण्व की वाणी अलंकृत व परिमार्जित होती है। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र अवलोकनीय है– 'अह प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्।' ऋ. ८।६।११ (अहम्) मैं (प्रत्नेन मन्मना) प्रकृष्ट व पुरातन वेद ज्ञान से (कण्ववत् गिरः शुम्भामि) कण्व की तरह वाणी को अलंकृत व परिमार्जित करता हूं।

कण्व के सम्बन्ध में और भी कई कथानक व आख्यानशैलियां उपलब्ध होती हैं, उन में एक इस प्रकार है—

वयमु त्वा तदिदर्था०' इस मन्त्र पर जो साम गान गाया जाता है, वह काण्व नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि कण्व नार्षद ने इस को देखा था। इस साम गान के स्पष्टीकरण के लिए एक कथानक आता है, उस में कण्वों की स्थिति व स्वरूप का ज्ञान होता है। इसीलिए उस कथानक को संक्षिप्त

व्याख्या हम यहां प्रस्तुत करते हैं। वह इस प्रकार है—

वयमु त्वा तदिदर्था इति काण्वम्। कण्वो वै नार्षदो ज्योगप्रतिष्ठितश्चरन्। सोऽकामयत प्रतितिष्ठेयम्। स एतत् सामापश्यत् तेनाऽस्तुत। स रन्ताया इत्येव निधनमुपैत्। अरत इव वा एष भवति यो न प्रतितिष्ठिति। लेलेव वै रात्रि रतिर्वा एषा ततः स प्रत्यतिष्ठत्। तत् एतत् प्रतिष्ठा साम। प्रतितिष्ठति य एवं वेद। यदु कण्वो नार्षदोऽपश्यत् तस्मात् काण्वमित्याख्यायते। जै०ब्रा० १।२१६।

इस का संक्षिप्त भाव यह है कि कण्व नार्षद चिरकाल तक अप्रतिष्ठित हुआ, घूमता रहा। उस ने कामना की कि मैं प्रतिष्ठित होऊं। इस के लिए उस ने एक साम देखा और उस से स्तुति की। जब उस में वह खूब रम गया (रंतया) तब वह रमण ही उस का निधन हुआ। यह रति ही उस की प्रतिष्ठा का कारण बनी। रति और प्रतिष्ठा परस्पराश्रित हैं। किसी विषय में रति उसी समय पैदा होती है जब कि विषय और

लक्ष्य स्पष्ट हो और अच्छी प्रकार ज्ञात हो। विषय और लक्ष्य का ज्ञान न होना ही रात्रि है। यह रात्रि लेला है, चञ्चल है। इस में स्थिरता नहीं। अर्थात् विषय का ज्ञान न होना लक्ष्य का पता न चलना डांवाडोल स्थिति होना रात्रि व अन्धकार कहलाता है। इस अवस्था में रमण व रति (आनन्द) नहीं। अत स्थिरता भी नहीं। क्योंकि आनन्द व रति में ही स्थिरता है। ज्ञानोपलब्धि तथा विशेष कर दिव्य ज्ञान के अवतरण के लिए स्थिरता व प्रतिष्ठा का होना नितान्त आवश्यक है।

उपर्युक्त मन्त्र पर जो यह काण्व नामक साम गान किया जाता है उस की चरितार्थता मन्त्र से हो जाती है कि नहीं यह हमें मन्त्रार्थ से देख लेना चाहिये। मन्त्र में ज्ञानोपलब्धि के हेतुभूत इन्द्रियों में विद्यमान अग्नि को कण्व कहा गया है, ये इन्द्र Divine mind अर्थात् दिव्य मन की कामना करती हैं जिस से कि दिव्यज्ञान अवतरित हो। दिव्य ज्ञान के अवतरण के लिए रन्ता व रति की अवस्था होना अत्यन्त आवश्यक है। कण्व सम्बन्धी ये उपर्युक्त दोनों कथानक स्वप्न व सुषुप्ति अवस्था

का भी दिग्दर्शन कराते हैं। रात्रि में मनुष्य स्वप्न लेता है। स्वप्न मनुष्य के मन को भगाये फिरते हैं। अतः रात्रि को 'लेला' अर्थात् चञ्चल बताया गया है। पर जब सुषुप्ति में रति की अवस्था आती है, जब आत्मतत्व और मन दोनों पूर्णरूपेण सयुक्त हो जाते हैं। क्योंकि रति में दो का सयोग होना आवश्यक है। तब मन व इन्द्रिया कही नहीं भागतीं। अपितु अपनी सुधबुध खो कर दिव्यानन्द में विलीन हो जाती हैं। प्रात काल होने पर अश्वी देवों की कृपा से वे सब जागृत होती है। ज्ञान-वाहिनी व आज्ञा-वाहिनी नाड़ियों Sensory, Motor nervous System द्वारा आसुरी हल फिर चलने लगता है (सीरा युङ्ग्ध्वम्) कण्वाग्नि जो सुषुप्ति में आवरण से आवृत थी वह फिर स्वप्नावस्था में बोलना व देखना प्रारम्भ करती है। इस प्रकार सम्पूर्ण कथानकों को सामान्य स्वप्न व सुषुप्ति में भी घटाया जा सकता है। परन्तु कण्व सूक्तों में वर्णित अश्वियों के कार्यो को देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वहां वास्तव में रात्रि, ससार रूपी रात्रि है, उषा दिव्य उषा है, जागरण होना दिव्य ज्ञान में जागृत होना है।

स्वप्न दिव्य ज्ञान के स्वप्न हैं। इस सम्बन्ध में हम कण्व और अश्वी देवों पर विचार करते हुए स्पष्ट करेंगे।

कण्व द्वारा अग्नि का दोहन

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि जो मनुष्य इस कण्व नामक अग्नि को अपने अन्दर धारण करते हैं, उन को भी वेद में कण्व कहा गया है। मन्त्रों में आता है कि यह कण्व अग्नि का दोहन करता है। अब हम मन्त्रों के आधार पर यह देखते हैं कि वह अग्नि कौनसी है, और उस के दोहन का क्या तात्पर्य है? मन्त्र इस प्रकार है—

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टय:। ऋ० १।३६।१९।

हे अग्नि! तुझे सर्वव्यापक मन ने (मनु:) अपने अन्दर धारण किया हुआ है। तू संसार में हो रहे शाश्वतिक निर्माण के लिए ज्योतिरूप है। हे अग्नि! ऋत से उत्पन्न तथा सिञ्चित हो कर

तू कण्व में प्रदीप्त होती है। जिस तुभ को कृष्टि लोग अर्थात् आन्तरिक गुफाओं को खोदने वाले भक्त लोग नमस्कार करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में अपना वैयक्तिक मन होता है। इन सब वैयक्तिक मनों का आदि स्रोत व इन का नियन्त्रण करने वाला मनोमय जगत् का एक व्यापक मन है जिस को कि वेद में मनु कहा गया है। हम सब मनुष्य उस मनु की सन्तान हैं। इस मनु अर्थात् व्यापक मन में वह अग्नि विद्यमान है जिस की ज्योति व प्रकाश से वह निरन्तर मानव जगत् की उत्पत्ति करता है। कण्व में यही अग्नि ऋत से पैदा होती है। यह ऋत एक गतिमय दिव्य सत्य है जो कि अज्ञान के आवरण को भेदन करता है। वह अग्नि इस सर्वव्यापक मन से वैयक्तिक मनों व प्राणों में अवतरित होती है। अग्नि के इस अवतरण को वैदिक साहित्य में दोहन शब्द से कहा गया है। इस कण्व नामक अग्नि के दोहन को जो जानता है वह भी कण्व कहलाता है। इस अग्नि के दोहन व उस के उपाय को बताने वाला निम्न मन्त्र है जिस के आधार पर शाखा संहिताओं में भी पर्याप्त विचार हुआ है। वह मंत्र

इस प्रकार है—

तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम् । यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां पयसा महीं गाम् । यजु० १७।७४

(विश्वजन्या) विश्व को पैदा करने वाली (वरेण्यस्य सवितु.) वरणीय सविता देव की (ता चित्रा सुमति अह आवृणे) उस अद्भुत सुमति को मैं वरता हूं । (अस्य) इस सविता की (या प्रपीना सहस्रधारां मही गा) जिस प्रवृद्ध महान् तथा सहस्रों धाराओं वाली इस सुमति रूपी गौ को (पयसा) ज्ञानरस के निमित्त से (कण्व: अदुहत) कण्व ने दोहन किया ।

यह मन्त्र स्वल्पभेद से अथर्ववेद में भी आता है । वहा मुख्यत: सुमति के विशेषण ही विशेष विचारणीय हैं, वे इस प्रकार हैं—

चित्रां सुचित्रां, विश्वजन्याम्, विश्ववाराम्, प्रपीनां, सहस्रधाराम्, महीं गाम् ।

इस प्रकार इन विशेषणों से यह स्पष्ट है कि यह सविता की सुमति विश्व को पैदा करने वाली

तथा उसे सब ओर से यह घेरे रहती है। ऐसी इस सुमति का दोहन कण्व जानता है। इस सुमति को ही यजुर्वेद की शाखासंहिताओं में अग्नि कहा गया है। तैत्तिरीय सहिता में आता है कि 'ता सवितु र्वरेण्यस्य चित्रामिति शमीमयी शान्त्या अग्निर्वा ह वा अग्निचित दुहेऽग्निचिद्वाऽग्नि दुहे।' तै०स० ५। ४।७।५।

इस उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अग्निचिद् अर्थात् अग्नि का चयन व धारण करने वाला कण्व अग्नि का दोहन करता है अथवा यह अग्नि उस कण्व का दोहन करती है। ये दोनों बाते सम्भव हैं। ये दोनो एक दूसरे का दोहन करते हैं। मनुष्य में आकर यह चित्र विचित्र रूप धारण करती है (चित्रा सुचित्रा)। जब मनुष्य में यह अवतरित हो जाती है तब मनुष्य इसकी शक्तियों का पान करता है। ये शक्तिया सहस्रो धाराओं में प्रवाहित हो मनुष्य में आ पहुचती हैं। ये दोनों एक दूसरे को बढ़ाते हैं यही इन दोनों का दोहन है। यहां हमें यह बात अवश्य

समझ लेनी चाहिये कि यह अग्नि ऋत व सत्य से पैदा होती है । सत्य से ही वृद्धि को प्राप्त होती है । इसी दृष्टि से कण्व सम्बन्धी मन्त्रों में इसे ऋतजात, १ ईधे ऋतात्, २ सत्यसवाम् ३ आदि विशेषण दिये गये हैं । यह अग्नि कण्व को सुवीर्य सौभग ४ प्रदान करती है । एक मन्त्र में आता है कि जब कण्व में ऐन्द्रियिक ५ यज्ञ (गविष्टि = गौ + इष्टि) अर्थात् इन्द्रिय सम्बन्धी साधना प्रारम्भ होती है तो यह अग्नि वर्षण करने वाली तथा द्युम्नी अर्थात् दिव्य ज्ञान की प्रकाशक हो जाती है । यह अग्नि देवत्व ६ को चाहने वाली प्रजाओं

---

१ ऋ १।३६।१९

२ यमग्नि मेध्यातिथि. कण्व ईध ऋतादधि

३ ता सवित. सत्यसवाम् अथर्व ७।१५।१

४ अग्निर्वव्ने सुवीर्यमग्नि· कण्वाय सौभगम् ।
ऋ. १।३६।१७

५ भुवत् कण्वे वृषा द्युम्नी आहुतः क्रन्ददश्वो गविष्टिषु । ऋ. १।३६।८

६. प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
ऋ. १।३६।१

को पूजनीय होती है ।

इस प्रकार कण्व और अग्नि के सम्बन्ध में हमने कुछ विचार यहां अभिव्यक्त किये । इसी प्रकार के और भी अनेकों विचार व गूढ़रहस्य कण्व और अग्नि के सम्बन्ध में मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं । जिन पर विचार करना अति विस्तार के कारण कठिन है ।

अब हम कण्वों के कुछ सांझे कार्यों पर विचार करते हैं ।

कण्वों द्वारा मानव बुद्धि में इन्द्रत्व का संवर्धन

कण्वास इन्द्र ते मतिं विश्वे वर्धन्ति पौंस्यम् ।
उतो शविष्ठ वृष्ण्यम् ।

ऋ० ८।६।३१

हे इन्द्र ! (विश्वे कण्वासः) सारे कण्व (पौस्य) पुरुष में विद्यमान (ते मतिं) त्वत् सम्बन्धी बुद्धि को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं अर्थात् बुद्धि द्वारा तुम्हें प्रकाशित व वृद्धिगत करते हैं । (उतो) और (शविष्ठ) हे बलशालिन् इन्द्र ! (वृष्ण्यम्) वर्षणशील तेरे बल को भी बढ़ाते हैं ।

इसी प्रकार मति में भगवान् के विविध रूपों को प्रकाशित करने व संवर्धन करने के सम्बन्ध में कण्व सूक्तों में अनेकों मन्त्र आते हैं । यह प्रतीत होता है कि कण्वों का प्रमुख कार्य बुद्धि संवर्धन ही है । इसी लिये कण्ववंशी ऋषियों के मेध्यातिथि व मेधातिथि आदि नाम बुद्धि की इस विशिष्टता के कारण ही है । अत. उनके स्वरूप निर्धारण में यह बौद्धिक वैशिष्ट्य प्रमुख साधन कहा जा सकता है । बुद्धि संवर्धन व बुद्धि में दिव्यशक्ति के अवतरण को लेकर अनेकों मन्त्र कण्वसूक्तों में भरे पड़े हैं । उदाहरणार्थ संक्षेप में कुछ मन्त्रों का दिग्दर्शन हम यहां कराते हैं ।

बुद्धि में इन्द्रत्व के प्रकाश का साधन

उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत । ऋ० ८ । ६ । २८

(गिरीणां उपह्वरे) पर्वतों के शिखर पर (नदीनां संगथे च) और नदियों के सान्निध्य में रह कर (विप्रः) यह विप्र इन्द्र (धिया अजायत) बुद्धि द्वारा प्रकट होता है ।

मन्त्र का भाव स्पष्ट है। बुद्धि द्वारा इन्द्रत्व के प्रकाश के लिये मनुष्यों को पर्वत शिखर पर या नदियों के किनारे आश्रम बना कर साधना करनी चाहिये। प्राचीन ऋषिमुनियों की यही परिपाटी रही है। परन्तु इस मन्त्र को आध्यात्मिकता की सूक्ष्म दृष्टि से भाका जाये तो पर्वत शिखर मूर्धा-शिखर है, और नदियों का सगम उन विविध नस नाड़ियों का मन द्वारा मेल है, जिनसे कि दिव्यता का आविर्भाव होता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि मति में इन्द्रत्व का प्रकाश उसी अवस्था में होगा जब कि मति निरन्तर इन्द्र का सेवन करती रहेगी। इस सम्बन्ध में एक मन्त्र है–

अभि कण्वा अनूषताऽऽपो न प्रवता यतीः।
इन्द्रं वनन्वतीःमति। ऋ० ८।६।३४

(कण्वा अभि अनूषत) कण्वों की इन्द्र के प्रति स्तुति इस स्वाभाविक रूप से और तीव्र गति से होती है। (आपो न प्रवता यतीः) जिस प्रकार ऊचे स्थान से जलधाराए प्रवाहित होती

हैं । उन कण्वों की (मतिः) बुद्धि (इन्द्रं यनन्वतीः) इन्द्र का निरन्तर सेवन करती रहती हैं ।

इमे हि ते कारवो वावशुर्धिया विप्रासो मेधसातये । ऋ० ८।३।१८ ।

हे इन्द्र ! (इमे हि ते कारवः) ये तेरे निर्माता (विप्रास:) विप्र लोग (मेधसातये) सगमनीय पवित्र वस्तुओं की प्राप्ति के लिए (धिया वावशुः) बुद्धि से कामना करते हैं।

यहाँ विप्र लोगों को कारु कहा है । विप्र लोग इन्द्र को अपने अन्दर निर्माण करते हैं, पैदा करते हैं। बौद्धिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं।

ज्ञानाकर्षक चलनियां (धीतिः)

इमा अभि प्रणो नुमो विपामग्रेषु धीतयः । अग्ने शोचिर्न दिद्युत.। ऋ. ८।६।७ ।

(विपामग्रेषु) कम्पन करती हुई **बौद्धिक**

नस-नाड़ियों के सिरों पर (धीतयः) ये ज्ञानाकर्षक चूसनियां हैं (इमा अभि नः प्रनुभः) इन की ओर हम नमन करते हैं। ये धीतिया (अग्नेः शोचि र्न दिद्युतः) अग्नि की ज्वाला के समान चमकती है।

'विपा' बुद्धि को कहते हैं। यह शब्द 'विप कम्पने' से बना है। कम्पन करती हुई बुद्धि के (अग्रेषु) अग्रभागों पर ये धीतियाँ (धेट पाने) ज्ञानरस का पान करती रहती हैं, चूसती रहती हैं। इन धीतियों के सम्बन्ध में अगले मन्त्र में कहा है—

गुहा सती रुपत्मनाप्रयच्छोचन्त धीतय. । कण्वा ऋतस्य धारया। ऋ० ८।६।८। (गुहा सतीः) मस्तिष्क रूपी गुफा में रहती हुई (धीतयः) ये धीतियां (यत्) जब (त्मनाउप) स्वयं इन्द्र अर्थात् दिव्य मन से सम्पर्क करती हैं तब (ऋतस्य धारया) ऋत की धारा से (कण्वाः) ये कण्व और धीतियां (प्रशोचन्त) प्रदीप्त हो जाते हैं।

ऋत को प्राप्त कर कण्व क्या बन जाते हैं ?

'अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि ॥ ऋ० ८।६।१० (अह इत् हि) मैंने ही निश्चय से (पितुः ऋतस्य) पिता के सदृश पालन करने वाले ऋतज्ञान की (मेधां) बुद्धि को (परिजग्रभ) ग्रहण किया है । तत् पश्चात् (अह) मैं (सूर्य इव अजनि) सूर्य के समान तेजस्वी व शक्तिमान् बन गया हूं ।

इस प्रकार हमने कण्व ऋषियों के उन मन्त्रों में से कुछ मन्त्रों को दिग्दर्शन के तौर पर यहां दिखाया है, जिनमें बुद्धि के सर्वतोमुखी विकास व बुद्धि में दिव्य अवतरण का व्यापक वर्णन है । अब हम कण्वों की स्तुति की विशेषता को यहा दिखाते हैं—

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।
जामि ब्रुवत आयुधम् । ऋ० ८।६।३ ।

(कण्वाः) कण्वों ने (यद्) जब (इन्द्र)

इन्द्र को (स्तौमैः) स्तुति समूहों द्वारा (यज्ञस्य साधनम्) अपने आध्यात्मिक यज्ञ का साधन (अक्रत) बना लिया तब (आयुधं जामि ब्रुवत) अन्य अस्त्रों को व्यर्थ समझो।

भगवान् की स्तुति में सौदेबाजी नहीं

न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ।
तवेदु स्तोमं चिकेत॥ ऋ०८।२।१७।

(वज्रिन्) हे वज्रशाली इन्द्र ! (अपसः) तुझ व्यापक कर्मठ भगवान् के (नविष्टौ=नु+इष्टौ) स्तुति यज्ञ में (अन्यत् आपपन) अन्य किसी वस्तु की स्तुति नहीं करता अथवा किसी प्रकार की सौदेबाजी नहीं करता। (तव इत्) तेरी ही (स्तोम) स्तुति को मैं (चिकेत) जानता हूं।

नविष्टौ=नु+इष्टौ, नु स्तुतौ।
पन स्तुतौ, पण व्यवहारे।

प्रायः मनुष्य भगवान् की स्तुति में कोई न कोई शर्त व सौदेबाजी किया करता है। परन्तु

भगवान् के सच्चे भक्त की स्तुति स्वाभाविक होती है। वह भौतिक सम्पत्ति ही नहीं दैवी सम्पत्ति की भी मांग नहीं करता। सच्चे भक्त की स्तुति उस का अपना स्वभाव होता है।

गाथश्रवसं सत्पतिं श्रवस्कामं पुरुत्मानम्।
कण्वासो गात वाजिनम्॥ ऋ० ८।२।३८।

(गाथश्रवस) गाथा सुनने वाले (श्रवस्काम) यश की कामना वाले। (सत्पति) सज्जनों के स्वामी (पुरुत्मान) बहुरूपी (वाजिनम्) वेगवान् उस इन्द्र का (कण्वासः) हे कण्वो (गात) गायन करो।

इस मन्त्र में इन्द्र के दो विशेषण कण्वों के सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य हैं। वे हैं गाथ-श्रवसम् और श्रवस्कामम्। 'गाथश्रवसम्' यह विशेषण चारों वेदों में इसी स्थल पर आया है। गाथा इतिवृत्त को कहते हैं। वह इतिवृत्त जो कि गाया जाता है। वह परमात्मा का सृष्टि-निर्माण, स्थिति, विनाश आदि गाथारूप इतिवृत्त है। उस भगवान् की इतिवृत्त सम्बन्धी गुणावली

को ये कण्व जगह-जगह गाते फिरते हैं। दूसरा विशेषण श्रवस्कामम् है, अर्थात् जो प्रभु अपनी चर्चा को चाहता है। इसलिए नही कि उसे स्वय यश की कामना है पर भगवान् की गुणावली गाने वाले भगवान् के सदृश बनने का प्रयत्न करें यही कामना है। भगवान् का यशोगान करने वाले ये कण्व बताये गये है।

कण्व और अश्विनौ

ये अश्वी देवों व ऋषियों के वैद्य हैं। देवों व ऋषियो में विद्यमान बीमारी व विकृति को दूर करने वाले तथा आसुरी शक्ति से इन को छुडाने वाले हैं। इसी प्रकार अश्वी कण्व व कण्व पुत्रों के भी अनेक विपत्तियों में सहायक बने हैं।

आत्म समर्पण नामक पुस्तक में हमने ब्रह्माण्ड में विद्यमान अश्वी देवों के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया है। ब्रह्माण्ड में अश्वियों का प्रमुख स्वरूप सूर्य और चन्द्रमा का सयुक्त (सचाभुवा, सजोषसा, सुयुजा) रूप है। पिण्ड में इनके अश रूप में यह बुद्धि और मन का संयुक्त (सुयुजा)

रूप समझना चाहिये। परन्तु इस अध्यात्म क्षेत्र में शरीर के अन्य युगल अगों को भी अश्वी माना गया है। यथा दोनों आंख, दोनों नाक, दोनों कान। इसी में दोनों फुप्फुस भी हैं। यदि हम इन्हें सूर्य और चन्द्रमा के शीर्षक में रखे तो इस प्रकार रख सकते हैं कि शरीर के दाहिने भाग में होने वाले अग सूर्य हैं और वाम भाग में होने वाले चन्द्रमा। दक्षिण नासिका का स्वर सूर्य-स्वर है और वाम नासिका का चन्द्र-स्वर कहलाता हैं। जिस समय नासिका के एक पार्श्व से स्वर चल रहा होता है, तब वह इन का अश्वीरूप नहीं है। परन्तु जब दोनों स्वर एक साथ चलते हैं, तब वे अश्वी कहलाते हैं। वास्तव में ये दोनों स्वर उस समय अश्वी देवों के आधीन होते हैं। उस समय उन दोनों के द्वारा अश्वियों का प्रकाश हो रहा होता है। इसीलिए (नासत्यौ = नासिकाप्रभवौ) अश्वियों को नासिका से उत्पन्न माना जाता है। इस क्षेत्र में केवल नासिका ही उन अश्वियों का निवास स्थान नहीं है। अपितु नासिका से दोनों फुप्फुसों तक अश्वियों का प्रभावस्थल समझना चाहिये। जब सूर्यस्वर और चन्द्रस्वर दोनों सुयुजौ

मिल कर चल रहे हों, तब इस सम्मिलित प्राण-वायु को अश्वियों का रूप समझना चाहिये। इसी प्रकार दोनों चक्षु, जब एक साथ वस्तु को देखती हैं, तब यह अश्वी का रूप है। दोनों कान जब एक साथ किसी शब्द को सुनते हैं, तब ये भी अश्वियों के क्षेत्र व प्रभाव में आ जाते हैं। जब हम दो को सयुक्त करते हैं, तब यह प्राण-वायु अवरुद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ जिस समय हम दोनों चक्षुओं को सयुक्त कर किसी वस्तु को देखते हैं, तब दोनों नेत्रगोलकों की ओर दृष्टिशक्ति का एक समान प्रवाह चलता है। उस समय फुप्फुसों में विद्यमान प्राणवायु वहीं अवरुद्ध हो जाती है। मनुष्य के श्वास प्रश्वास बन्द हो जाते हैं। दोनों नेत्र गोलकों से फुप्फुसों व हृदय तक एकतानता पैदा हो जाती है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि दोनों चक्षु रूपी अश्वों की लगाम हृदय में विद्यमान किसी शक्ति ने खेंच रखी है। इसी प्रकार दोनों श्रोत्रों व दोनों नासिकाओं के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। इससे यह परिणाम निकला कि जब चक्षु, नासिका व श्रोत्र आदि इन विविध साधनों का

एक साथ विनियोग होगा तब ये अश्वियों के प्रभाव में होने के कारण गौण रूप से अश्वी कहलायेंगे। यही बात सम्पूर्ण नर्वस सिस्टम के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस उपर्युक्त तथ्य को अश्वियों के सजोषसा, सचाभुवा, सचनस्तमा, सुयुजा, सयोनी-आदि विशेषण प्रकट कर रहे हैं। मन्त्रों में इनके पारस्परिक सम्बन्ध को कई उदाहरणों से दर्शाया गया है। जिन में कुछ उदाहरण विशेष रूप से ब्रह्माण्ड में घटित होते हैं और कुछ पिण्ड में। इन उदाहरणों में कुछ इस प्रकार हैं— पक्षी १ के पखो के समान ये अश्वी परस्पर सयुक्त हैं। २रथ के दो पहियों के समान, इसी प्रकार दो नाक, दो कान, दो पैर, दो द्वार, माता पिता, दम्पती आदि। ब्रह्माण्ड व पिण्ड में सूर्य और चन्द्रमा का मिलन उनकी किरणों के द्वारा होता है, अत. उन अश्वियों को वेद में 'उस्रा' आदि ३

---

१. शकुनस्य पक्षा इव . . साकयुजा। ऋ० १०।१०६।३

२. रथ्या इव . . . चक्रा। ऋ० ११८०।४

३. सूर्यावसु ऋभुमन्ता

विशेषणों से सम्बोधित किया गया है । सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों की किरणों के मिलन से एक नयी शक्ति का जन्म होता है, जिसे कि वेद की भाषा में अश्वी कहते हैं । और उनका यह मिलन प्रात काल होता है। क्योंकि अश्वियों की स्थिति रात्रि के १२ बजे के बाद है। अत: अश्वी और कण्व पर विचार करते हुए हमें कण्व का रात्रि के १२ बजे के बाद का स्वरूप देखना चाहिये । अश्वी नामक यह नयी शक्ति सूर्य १ रश्मियो के द्वारा सर्वत्र पहुचती है । इन अश्वियो का रथ २ सूर्य-त्वचा वाला है – अर्थात् सूर्य के ऊपरले स्तर व आवरण पर जो भी शक्ति किरणो के रूप में हैं, वह इन अश्वियों का वाहन बनती है । द्युलोक के जिस स्तर पर सूर्य और चन्द्रमा की किरणे मिल कर नया रूप धारण करती हैं, वे अश्विनौ हैं ।

स्तुति द्वारा आह्वान

इन अश्वियों का कण्व लोग स्तुति द्वारा आह्-

---

१. नआगत साकं सूर्यस्य रश्मिभि. ऋ० १।४७। ७,८।१०१।२

२. तेन नासत्यागतं रथेन सूर्यत्वचा ऋ. १।४७।६

वान करते हैं। एक मन्त्र में कण्वों द्वारा की गई अश्वियो की स्तुति के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि "हे अश्वियो १ ! क्या हम से भी बढ कर कोई और व्यक्ति स्तुतियों से तुम्हारी स्तुति वा उपासना करते हैं अर्थात् कोई नही। यह कण्व का पुत्र वत्स ऋषि तुम्हे अपनी स्तुतियों से बढाता है"। एक मन्त्र में आता है कि "ये २ अश्वी स्तुतियों से आह्वान को सुनने वाले हैं"। "यह ३ वत्स नामक विप्र ऋषि अपनी रक्षा के लिये हे अश्वियों ! तुम्हें स्तुतियो से आह्वान करता है"।

इस प्रकार स्तुति सम्बन्धी अनेकों मन्त्र वेदों में आते हैं। उदाहरण-रूप मे ऊपर कुछ मन्त्रों का दिग्दर्शन कराया। वे अश्वी स्तुति सुनकर भक्त के पास आते हैं। अब विचारणीय यह है कि ये अश्वी कब आते हैं और कहा से आते हैं ?

---

१. किमन्ये पर्यासतेऽस्मत् स्तोमेभिरश्विना। पुत्रः कण्वस्य वामृषिर्गीर्भि र्वत्सोऽवीवृधत्।
ऋ० ८। ८। ८
२. स्तोमेभिर्हवनश्रुता
३. आवां विप्र इहावसेऽह्वत् स्तोमेभिरश्विना।

इसका सक्षेप में उत्तर यह है कि ये अश्वी ब्रह्माण्ड में तो सूर्य और चन्द्रमा के सन्धिस्थल से आते हैं, चाहे वह सन्धिस्थल द्युलोक हो या अन्तरिक्ष लोक हो, और इसी प्रकार पिण्ड मे मन और बुद्धि के सन्धिस्थल से आते हैं । और ये अश्वी मुख्य रूप से प्रातः काल आते हैं। मन्त्रो में आता है 'आ नो यात दिवस्परि' 'दिवश्चिद् रोचनात्' । भगवान् की सूर्य शक्ति और चन्द्र शक्ति ये दोनों सयुक्त हो कर द्युलोक से, प्रकाशमान लोक से भक्त में पहुचती हैं और उसके अन्दर विद्यमान मन, बुद्धि व इन्द्रिय आदि देवाशों को शुद्ध, परि-मार्जित व सवर्द्धित करती हैं। अश्वियों की स्तुति व उनका मनुष्य के अन्दर आने का साधन यह है कि मनुष्य स्तुति आदि द्वारा अपने मन बुद्धि और उनके सम्मिलन को चुम्बकीय शक्ति बनाता है जिससे वे अश्वी आकर्षित हो कर मनुष्य मे प्रविष्ट होते हैं। मनुष्य में इन अश्वियों का प्रवेश दो रूपों में हैं । जिस प्रकार सोम दिव्य और पार्थिव दोनो प्रकार का होता है । इसी भाति ये अश्वी भी दिव्य व पार्थिव दोनों रूपों वाले होते हैं। इनका दिव्य रूप वह है जब कि मनुष्य अपनी

आन्तरिक चुम्बकीय शक्ति से ब्रह्माण्ड में से इनको सीधा अपने अन्दर आकर्षित कर लेता है। और इनका पार्थिव रूप इस प्रकार है कि जब सूर्य और चन्द्रमा की सम्मिलित शक्ति जलों, औषधियों व वनस्पतियों में प्रविष्ट हो तद्गत सोम को अपने तेज से तेजयुक्त कर देती है तब उनके सेवन से मनुष्य में अश्वी प्रविष्ट होते हैं। (ऋ० ८।६। ४, ५) परन्तु मनुष्य को अपनी आन्तरिक शक्तियों को दिव्य बनाने व मन, बुद्धि और इन्द्रियादि देवाशों की विकृतियों को दूर करने के लिये दिव्य अश्वियों की ही आवश्यकता है। जब मन और बुद्धि को एकाग्र और सुयुक्त कर शरीर के किसी स्थान पर प्रयुक्त करते हैं, तब जो गरमी व उष्णता (घर्म) शरीर मे पैदा होती है, वह स्तुतियों द्वारा सीची जाती है। इससे शरीर में शान्ति और निर्मल तेज दोनों पैदा होते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि अथर्वा व्यक्ति अर्थात् अचल स्थिर व कूटस्थ व्यक्ति में ही सीचा गया सोम तेज (घर्म) को पैदा करता है।

अश्वी ऋत के मार्ग पर विचरते हैं

वेद में एक मन्त्र आता है जिसमे यह कहा गया है कि ये अश्वी सामान्य जीवधारियों की ओर ऋत के मार्ग से आते है ।

कवी ऋतस्य पत्मभिरर्वाग् जीवेभ्यस्परि ।

ऋ० ८।८।२३

ये क्रान्तदर्शी अश्वी देव ऋत के मार्ग से हम जीवों की ओर आवे ।

ये अश्वी ऋत के बढ़ाने वाले हैं । अत: अनेकों स्थलों पर 'ऋतावृधौ' आदि विशेषणो मे इन्हे सबोधित किया जाता है । क्योंकि अश्वी 'रघुवर्तनी' लघुमार्ग, ऋजुमार्ग व सरल मार्ग पर चलने वाले हैं । अत अश्वियों से सहायता लेने के इच्छुक मनुष्य को कुटिलता कट्टरता व दृढ़ता का परित्य ग कर अत्यन्त ऋजुप्रकृति का बनने की आवश्यकता है- (ऋ० ८।६।८) । वह ऋजुमार्ग हिरण्य का मार्ग (हिरण्यवर्तनी) है । ये स्वयं

भी हिरण्य रूप वाले (हिरण्यपेशसा) है। हिरण्य पथ सुवर्णीय रंग का सात्विक पथ है। सात्विक पथ में ही ज्ञानवृद्धि होती है । ज्ञान के उपासक कण्व अश्वियों की स्तुति करते है । कण्व और अश्वियों के पारस्परिक सम्बन्ध को सुचारु रूप से समझने के लिये हमे रात्रि के बारह बजे के पश्चात् के अश्विनी काल को भी ध्यान में रखना चाहिये। क्योंकि १२ बजे के पश्चात् सूर्य चन्द्रमा की किरणों की मिश्रित धारा पृथिवी को ओर आती है। वह मिश्रित धारा ही अश्वी है जो कि मनुष्यों पर प्रभाव डालते है।

मनुष्य जिस समय गाढ निद्रा व सुषुप्ति में होता है उस समय बुद्धि व मन दोनों विलीन व प्रसुप्त होते हैं तब मनश्चेतना सब समाप्त होती है, मन और बुद्धि का सम्पर्क नही होता । परन्तु रात्रि के १२ बजे के पश्चात् जब सुषुप्ति समाप्त हो कर स्वप्नावस्था आती है, मन जाग्रत हो जाता है और हमारी चेतना का प्रवाह भी चालू हो जाता है और हमें स्वप्न आने लगते हैं। प्रश्न यह है कि यह कौन करता है, सुषुप्ति की विलीन अवस्था से मन और चेतना को कौन उभारता है ?

वेद के शब्दों में वे अश्विनी हैं, जिनकी कृपा से चेतना की धारायें स्वप्न रूप में सब शरीर में प्रवाहित होने लगती है। इस अवस्था का कण्व (ज्ञानाग्नि) अन्धा और बहरा होता है। इस समय कौन क्या कह रहा है क्या दृश्य आते हैं उसे इसका ज्ञान नही। परन्तु यदि ब्राह्ममुहूर्त मे जागृत हो बाह्य अश्वियों के साथ अपने आन्तरिक अश्वियो को एक करके उन्हे परस्पर सम्मिलित करने एकाग्र करने का प्रयत्न करे (प्रातर्युजौ) तो उसे स्वप्नावस्था का ज्ञान हो जाये, उसका रहस्य पता चल जाये। और मन बुद्धि रूपी अश्वियों को एकाग्र करने का यदि इस समय निरन्तर अभ्यास किया जाये तो कुछ काल पश्चात् दिव्य दर्शन व दिव्य श्रवण होने लगे। इसलिये कण्व अश्वियों से प्रार्थना करता है–

'प्रातर्युजौ विबोधय'।

प्रात.काल युक्त होने वाले हे अश्वियों ! तुम मुझे विशेष बोधवाला बनाओ। रात्रि के अन्तिम

प्रहर में जब मन सचेतन हो कर अर्थात् सुषुप्ति से उठ कर स्वप्न लेने लगता है तो उस समय के लिये मन्त्र कहता है कि इस समय हमें इन मन और बुद्धि को थोड़ा जागृत नही करना है अपितु विशेष जागृत व विशेष बोधवाला बनाना है। इस समय मन और बुद्धि का सुषुप्ति से जागरण सामान्य न हो कर विशेष जागरण होना चाहिये, जिससे हमारे अन्दर प्रच्छन्न रूप में विद्यमान सब देवता जागृत हो जाये। इसीलिये देवों को 'उष-र्बुध' कहा जाता है।

मन और बुद्धि इन दोनों की संयुक्त शक्ति को अश्वी कहते हैं यह हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं कि जिस व्यक्ति के मन और बुद्धि जिस सीमा तक विकसित होते हैं उसी सीमा तक उसमें अश्वियों का प्रकाश हो सकता है परन्तु इसमें शर्त यह है कि मन, बुद्धि को परस्पर युक्त किया जाये। यह सतत अध्यवसाय व अभ्यास का विषय है। ज्यों-ज्यों इन दोनो की युक्तावस्था बढ़ती जाती है त्यों त्यों अश्वियों का मनुष्य में अवतरण

उनकी सहायता तथा उन का प्रकाश अधिक होता जाता है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि मन और बुद्धि इन दोनो की शक्ति को बढ़ाये और इन को परस्पर युक्त करे। अश्वियो के मन और बुद्धि वाले दोनों रूप हैं, यह मन्त्रो में स्पष्ट निर्देश हुआ है। उदाहरण के रूप में कुछ इस प्रकार हैं—

१वे अश्वीदेव धी अर्थात् बुद्धि से वसु प्राप्त कराने वाले, बुद्धि के वेग वाले तथा बुद्धि को प्रीणन करने वाले हैं। वे क्रान्तदर्शी व गम्भीर चित्तवाले हैं। तम व अन्धकार को दूर करने वाले ज्योतिर्मय अग्न को प्रदान करने वाले हैं। मन्द्र-ध्वनि से मनुष्य को चिताने वाले हैं' २मन के वेग वाले तथा मानसिक ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हैं। मन में वे समवेत हुए हैं। इस प्रकार कुछ मत्र

---

१. धिया देवा वसुविदा, धीजवना, धिय जिन्वा, कवी गम्भीरचेतसा, या ज्योतिष्मती तामिषम्।
पुरुमन्द्रा, प्रचेतसा, यतवचसा। धीभिः वत्स-प्रचेतसा।

२. मनोजवसा मनोतरा रणीयाम् समनसा।

पद और विशेषण हमने यहां प्रदर्शित किये हैं। जब साधक मन और बुद्धि को एकाग्र कर परस्पर संयुक्त करता है तो ज्ञानोपलब्धि के जितने भी करण हैं उन पर से तम व अज्ञान का आवरण क्षीण होना प्रारम्भ हो जाता है। इस लिए इन्हे 'दस्रौ', (दमु उपक्षये) कहा जाता है। ये अश्वी सूक्ष्म से सूक्ष्म मल व आवरण को विनष्ट कर दिव्य ज्ञान की उपलब्धि मे सहायक बनते हैं। गाढ निद्रा व सुषुप्ति में तम का जो आवरण आता है उसे ये विनष्ट करते हैं। निद्रा के समय सभी प्राणियो पर यह आवरण अवश्य ही आता है और प्रतिदिन नष्ट भी होता है। क्योकि अश्वी आवरण का विनाश अवश्य ही करते हैं, अत: उन्हे नासत्यौ (न+असत्यौ) कहा गया है अर्थात् वे अपने कार्य में असत्य कभी नही सिद्ध होते। ये अश्वी उत्तम रथ वाले, उत्तम घोडों वाले उत्तम नौकाओं वाले हैं। उत्तम मार्ग पर चलते हैं। कण्व कहता है कि हमें उत्तम मेधा ही नही चाहिये अपितु मति, बुद्धि से भी हम पार पहुचे 'मतीनां यात पारा-य गन्तवे' ऋ० १।४६।७। वेद कहता है कि मति से भी पार पहुंचने के लिए बडे-बडे गहन अतल-

स्पर्शी इन्द्रिय-समुद्र हैं, जिनको पार करना पड़ेगा। कौनसी नौका होगी? अरित्र कौनसे होगे? अथवा कौनसे रथ व घोडे होगे? इत्यादि प्रश्नो का समाधान वेद में अनेको प्रकार से किया गया है। एक मन्त्र मे आता है कि ऐन्द्रियिक समुद्रो के तैरने में अश्वियों का जो रथ प्रयुक्त होता है, उसका अरित्र १'दिवस्पृथु' द्युलोक तक विस्तृत है। और उसमें बुद्धि से 'इन्दु' सोम का योग करना पड़ता है। इस अवस्था में मति मे पार पहुच सकते हैं। कण्व को जब इन समुद्रो के तैरने के लिए अश्वियो का रथ प्राप्त हो जाता है तब वह कहता है कि—मति से पार जाने के लिए ऋत का मार्ग साधु हो गया है और मैंने द्युलोक का विस्तार देख लिया है। इस प्रकार कण्व का यह दिव्य रूप होगा।

प्रस्कण्व

कण्व के दो रूप हम पूर्व में देख चुके हैं। कण्व का पूर्व रूप अन्धा और बहरा है तो उत्तर

१. अरित्र वा दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूना रथः।
धिया युयुज् इन्दवः॥ ऋ० १।४६।८।

रूप दिव्य दृष्टि युक्त तथा दिव्य श्रवण-शक्ति युक्त माना गया है। यह प्रस्कण्व कण्व का श्रेष्ठ व प्रकृष्ट रूप है। दिव्य दृष्टि व दिव्य-श्रवण सम्बधी जो शक्तिया कण्व में पैदा होती हैं, वे और भी श्रेष्ठ व प्रकृष्ट रूप में होकर प्रस्कण्व में आविर्भूत होती हैं। अत कण्व से अत्यधिक वैशिष्ट्य के कारण इसे कण्व पुत्र मान लिया गया है। अब हम मन्त्रो के आधार पर अति सक्षेप में प्रस्कण्व की कुछ विशेषताओं को यहा प्रदर्शित करते हैं।

प्रस्कण्व की अवस्था में एक अपूर्व उषा (१अपूर्व्या उषः) जो कि पहिले कभी नही थी प्रकट होती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि यह भी प्राकृतिक उषा नही है, यह एक आन्तरिक दिव्य उषा है। प्राकृतिक उषा तो प्रतिरात्रि के पश्चात् आविर्भूत होती है। आन्तरिक उषा ही ऐसी होती है जो कि अपूर्व रूप वाली होती है। वह आन्तरिक उषा सामान्य उषा नही है। यह व्युष्टि (वि+उष्टि) अर्थात् विशेष उषा है।

१. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः।
ऋ० १४६।१।

इस अपूर्व और विशिष्ट उषा में प्रस्कण्व का जागरण व जन्म होता है। कण्व में तो दिव्य दृष्टि व दिव्य श्रवण-शक्ति का केवल प्रारम्भिक रूप ही होता है। उसे यह ज्ञात नहीं होता कि ये दिव्य-शब्द व दिव्य-दृश्य कहां से आते हैं ? कौन इस का प्रकाशक व उत्पादक है ? क्योंकि कण्व को उषा का ज्ञान अश्वियों के वीणावादन से हुआ था। उसे उषा का साक्षात् दर्शन नहीं था। परन्तु प्रस्कण्व अवस्था में आ कर उषा साक्षात् रूप में उत्पन्न हो कर सब कुछ प्रकट१ कर देती है। इसी दृष्टि ऋ० १।४८।४ २से मन्त्र के भाष्य में व्यैंकट माधव ने लिखा है कि 'उषसि शयाने शयान. प्रस्कण्व उदाराणा नामान्यसावसाविति ब्रूते' अर्थात् उषाकाल में बिस्तरे पर लेटा हुआ प्रस्कण्व उन उदार देवों (सूरय) का नाम लेता है जो कि प्रस्कण्व को दिव्य शक्तियों का

१ विश्वमाभासि रोचनम्। ऋ० १।४६।४।

२. उषो ये ते प्रयामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः। अत्राह तत् कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति, नृणाम्। ऋ० १।४८।४।

दान करना चाहती हैं। प्रस्कण्व कहता है कि 'व्युष्टि अर्थात् दिव्य उषाओं में देवो के सम्मुख पहुंचने के लिए अग्नि की स्तुति करता हू।'१

दिव्य उषा के आविर्भाव होने पर सविता, उषा, अश्वी, भग और अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं।२ कहने का भाव यह है कि इस प्रस्कण्व अवस्था में दिव्य शक्तियों का आविर्भाव (दैव्यं जनम्) विशेष रूप से होता है। इसलिए प्रस्कण्व ऋषि के मन्त्रों में 'दैव्य जनम्'३ दैव्य उत्पत्ति तथा इस से मिलते-जुलते वाक्य बहुत आते हैं। प्रस्कण्व के सम्बन्ध में ऋग्वेद में एक मन्त्र आता है जो कि इस प्रकार है—

१. देवा अच्छा यातवे जातवेदसमग्निमीडे व्युष्टिषु। ऋ० १।४४।४।

२. सवितारमुषसमश्विना भगमग्निं व्युष्टिषु क्षपः। ऋ० १।४४।८।

३. नमस्या दैव्य जनम्। ऋ० १।४४।६, इहाथ दैव्य जन बर्हिरासादया वसो। ऋ० १।४५।६।

पार्षद्वाणः प्रस्कण्वं समसादयच्छयानं जिव्रि-मुद्धितम् । सहस्राण्यसिषासद् गवामृषिस्त्वोतो दस्यवे वृकः ।। ऋ० ८।५१।१२ ।

(पार्षद्वाण.) चित्र विचित्र अर्थात् अद्भुत वाणियों ने (शयान) प्रसुप्त अतएव (जिव्रि) शिथिल (प्रस्कण्व) प्रकृष्ट कण्व को (उद्धितम् समसादयत्) उठा दिया । और वह (गवां सहस्राणि असिषासद्) सहस्रों दिव्य ज्योतियो को प्राप्त हुआ । इस प्रकार हे इन्द्र ! (त्वोतः ऋषिः) तुम से रक्षित वह ऋषि (दस्यवे वृकः) दस्यु का कर्तन करने वाला बना ।

उपर्युक्त मन्त्र से यह स्पष्ट है कि दिव्य उषा के आविर्भाव से पूर्व प्रस्कण्व को अद्भुत वाक् समूह उद्बुद्ध व प्रबुद्ध करता है और ऊपर उठा कर खडा कर देता है। इस से पूर्व वह तम के आवरण से आवृत था । परन्तु उषाकाल में प्रबुद्ध होते ही सहस्रो प्रकार की दिव्य ज्योतिया प्राप्त होने लगी । इस अवस्था में आकर फिर किसी प्रकार का आवरण प्रस्कण्व को आवृत न कर सका। उसने अज्ञान रूपी दस्यु के टुकड़े-टुकड़े

कर दिये। यहां पर 'पार्षद्वाण.' शब्द पर विशेष विचार करना उपयुक्त होगा। इस का निर्वचन इस प्रकार हो सकता है 'पृषन्तो वाणा.–पृषद्वाणा', तेषां समूह., पार्षद्वाण.।' वाण शब्द निरुक्त में वाक् नामो मे पठित है। पृषत् का एक भाव स्फुरण भी है, अर्थात् चमकती व स्फुरित होती हुई वाक् 'पार्षद् वाण' कहला सकती है। प्रस्कण्व के सम्बन्ध में दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

तत्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्व-
माविथ ।। ऋ० ८।३।६।

हे इन्द्र! (पूर्वचित्तये) द्युलोक व दिव्य प्रकाश की प्राप्ति के लिए (त्वा) तुझ से (तत् सुवीर्य) उस उत्तम क्षात्र-शक्ति और (तद् ब्रह्म) उस ब्रह्म-शक्ति की (यामि) याचना करता हू। (येन) जिस आत्मशक्ति से तूने (धने) ये क्षत्रशक्ति व ब्रह्मशक्ति रूपी दोनों धन (यतिभ्यः) यतियों के लिए और (भृगवे) परिपक्व बुद्धि वाले के लिए (हिते) नियत किए

हैं और (येन) जिससे (प्रस्कण्व आविथ) प्रस्कण्व की तुम रक्षा करते हो।

उपर्युक्त मन्त्र में 'पूर्व चित्ति' द्युलोक है या द्युलोक से उपलक्षित दिव्य प्रकाश है। (द्यौर्वै वृष्टिः पूर्वचित्तिः, तै० ब्रा० ३।६।५।२, श० प० १३।२।६।१४)। द्युलोक व दिव्य प्रकाश की प्राप्ति के लिए प्रस्कण्व में उत्तम वीर्यशक्ति और ब्रह्मशक्ति ये दोनों होनी चाहिये। प्रस्कण्व के लिए अग्नि से निम्न प्रार्थना की गई है।

सुशंसो बोधि गृणते यविष्ट्य मधुजिह्वः स्वाहुतः। प्रस्कण्वस्य प्रतिरन्नायुर्जीवसे नमस्या दैव्यं जनम्॥ ऋ० १।४४।६।

हे अग्नि! (सुशंसो बोधि) खूब प्रशंसित हुआ तू जागृत हो (गृणते यविष्ट्य) स्तुतिकर्ता में अत्यधिक घुलमिल जा (मधुजिह्वः) मधुर जिह्वा वाला तथा (स्वाहुतः) उत्तम रूप से आहुति दिया गया (प्रस्कण्वस्य जीवसे) प्रस्कण्व के जीवन के लिए उस की (आयुः प्रतिरन्) आयु को बढाता हुआ (दैव्यं जनम्) दैव्य उत्पत्ति

को (नमस्या) नमन कर अर्थात् प्रस्कण्व में पैदा कर।

उपर्युक्त मन्त्र में तीन बातें कही गई हैं। प्रस्कण्व की आयु वृद्धि की प्रार्थना है अर्थात् प्रस्कण्व की अवस्था जिसमें दिव्यज्ञान अवतरित होते हैं, खूबदीर्घ होनी चाहिये। दूसरा दिव्य उत्पत्ति और तीसरा दिव्य उत्पत्ति को करने वाला अग्नि का स्वरूप। अपने अन्दर दिव्य उत्पत्ति के लिये मनुष्य को सर्वप्रथम अग्नि की खूब प्रशसा करनी चाहिये जिससे कि वह जागृत हो जावे। अग्नि के जागृत होने पर उसकी इतनी स्तुति करनी चाहिये कि हम में और उसमें भेद न रहे (यविष्ट्य) और अपने आन्तरिक सभी तत्वों की उसमें आहुति डालकर उसे खूब प्रवृद्ध करना चाहिये, जिससे कि वह मधुर भाषा में हमारा पथप्रदर्शन करे। ऐसी अग्नि प्रस्कण्व अवस्था को निरन्तर बनाये रखती है जिसमें कि दैव्य उत्पत्ति होती रहती है। इस प्रकार प्रस्कण्व ऋषि पर

हमने सक्षेप में विचार किया । इस ऋषि का सम्बन्ध ब्राह्ममुहूर्त व प्रात काल से है । और उसके देवता भी अग्नि, सूर्य, उषा, अश्विनौ आदि हैं जिनका सम्बन्ध प्रात.काल से है ।

◈

मेध्यातिथि

मेध्यातिथि कण्व ऋषि का पुत्र है। इसे मेधातिथि भी कहते हैं। वेद व ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रकरणो को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि इन दोनों मेध्यातिथि व मेधातिथि में कोई भेद नही है। यह हम फिर कभी आपके सामने रक्खेंगे। मेध्यातिथि की व्युत्पत्ति के आधार पर तत्सम्बन्धी एक दो कथानकों पर आध्यात्मिक क्षेत्र की दृष्टि से विचार करते हैं

"मेध्यातिथि–मेध्यैरतिथिभिर्युक्तः"

ऋ० १।३६।१० (सायणाचार्य)

मेध्यातिथि वह व्यक्ति हो सकता है जिसकी मेधाबुद्धि में अतिथि आया करते हैं। अथवा **"मेध्याः संगमनीयाः पवित्रा अतिथयो यस्य सः"** मेल के योग्य पवित्र अतिथि जिसके पास आते हों।

ये अतिथि दो स्थानो पर आकर मेध्यातिथि

का यज्ञ सम्पन्न करते हैं। एक तो मेधा बुद्धि में और दूसरे हृदय स्थली में।

ये अतिथि प्रकृति के क्षेत्र में अनुसन्धान करने वाले तथा अध्यात्म मे विचरने वाले व्यक्तियों की मेधा बुद्धि व हृदय स्थली में आते हैं। साधारण मनुष्य भी जब कभी किसी विषय के प्रति रात दिन चिन्तन करता है तो उसे भी अचानक कई ऐसी बाते सूझ जाती हैं, जिनकी उसे आशा न थी। इसलिये साधारण मनुष्यो में ये अतिथि सूझ के रूप में आते हैं। परन्तु योगी व आध्यात्मिक पुरुषो में आने वाले इन अतिथियों को प्रकाश किरण, शक्ति तथा देवता इत्यादि कई नामों से कहा जा सकता है। इनको अतिथि इस लिये कहा कि इनके आने को तिथि निश्चित नही होती। अभीप्सा व परिश्रम करते रहना चाहिये न जाने कब ये आ पहुचे। मेध्यातिथि का आध्यात्मिक स्वरूप वह है जबकि इसमें नये-नये आध्यात्मिक तत्व, विज्ञान व शक्तिया प्रादुर्भूत होती हैं। वेद के पारिभाषिक शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते

हैं कि देवता अतिथि रूप में उसके यहां आते हैं और यज्ञ करते हैं। इस लिये मेध्यातिथि के मन्त्रों में हम यह देखते हैं कि वह देवताओं को बार-बार आह्वान करता है और अग्नि से बार-बार प्रार्थना करता है कि, जा तू उन देवताओं को यहां ले आ। (अग्ने देवाँ इहावह)। अब हम मेध्यातिथि सम्बन्धी एक दो कथानक यहा दिखाते हैं--

प्लयोग-आसङ्ग--

ऋ० ८ म० १ म सूक्त के ३० से लेकर ३३ तक ४ मन्त्र मेध्यातिथि तथा 'प्लायोगि आसङ्ग' के सम्बन्ध में आते हैं। पूर्वाचार्यों ने इन मन्त्रों से आसङ्ग प्लायोगि और मेध्यातिथि सम्बन्धी जो कथानक बनाया है, उसका सक्षिप्त भाव इस प्रकार है--

आसङ्ग नाम का एक राजर्षि हुआ है जिसके पिता का नाम प्लयोग था। इसलिये मन्त्रों में इसे आसंग प्लायोगि करके कहा गया है। कण्वपुत्र मेध्यातिथि इसका पुरोहित था। और वह इस

आसङ्ग की स्तुति में मन्त्रों की रचना किया करता था, जिससे प्रसन्न हो कर यह आसग मेध्यातिथि को खूब ऐश्वर्य दिया करता था।

अब हम इस कथानक को स्पष्ट करते हैं और फिर मन्त्रों की भी व्याख्या करते हैं।

आसग: प्लायोगि· को मैत्रायणी संहिता (३।१।६) में सग प्रयोगि कहा है। और सायणाचार्य ने ऋ० ८।१।३ मन्त्र की व्याख्या करते हुए 'प्लायोगि' को 'प्रायोगि' लिखा है इससे यह स्पष्ट है कि प्रायोगि व प्लायोगि में कोई भेद नहीं है। अब जो इस कथानक के पात्र हैं उनको हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

मेध्यातिथि जिसकी मेधा बुद्धि व हृदयस्थली में दिव्य शक्ति व दिव्य-ज्ञान अतिथि रूप में आते हैं।

प्रयोग – (प्र+योग) प्रकृष्ट रूप में अपने आपको किसी विषय के प्रति लगाना।

आसग– जिस विषय आदि के प्रति अपने आपको प्रकृष्ट रूप से लगाया जाता है, वहा उस विषय के प्रति आसंग या सग पैदा हो जाता है। आसङ्ग या सङ्ग को हम आसक्ति, लगाव, तन्म-

यता तल्लीनता आदि कई एक शब्दों में प्रकट कर सकते हैं ।

इसका भाव यह हुआ कि जब कोई मनुष्य किसी विषय या वस्तु के प्रति योग करता है, अर्थात् लगाता है तो उस विषय के प्रति उसके अन्दर लगाव पैदा हो जाता है । इस विषय के चिन्तन में वह तन्मय हो जाता है। क्योंकि प्रयोग (प्रकृष्ट योग) से आसङ्ग, (तन्मयता आसक्ति) पैदा होता है । इसलिये वैदिक भाषा में 'आसङ्ग' को 'प्रयोग' का पुत्र कह दिया गया है । इसी भाव को श्रमद्भगवद्गीता के निम्न श्लोक में इस प्रकार रख दिया गया है--

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते"

अर्थात् विषयों का ध्यान करने से मनुष्य में उनके प्रति सङ्ग अर्थात् लगाव पैदा हो जाता है । इस प्रकार वैदिक परिभाषाओं की गीता के शब्दों में तुलना करे तो इस प्रकार कर सकते हैं-

ध्यान = प्रयोग, सङ्ग = आसङ्ग

मनुष्य में इसको हम इस प्रकार समझ सकते

हैं कि मेध्यातिथि और आसङ्ग मनुष्य के ये दो रूप हैं। मेधा बुद्धि की विशेषता वाला एक रूप है और आसङ्ग अर्थात् तन्मयता व तल्लीनता वाला दूसरा रूप है। जब किसी मनुष्य में किसी विषय के प्रति अपने आपको प्रकृष्ट रूप से लगाने से उसके प्रति आसङ्ग भाव पैदा हो जाता है तब मनुष्य के दूसरे रूप मेध्यातिथि में नए-नए अतिथि आने लगते हैं। जब कोई योगी व वैज्ञानिक पुरुष अपने विषयों का चिन्तन करते हैं तो उन्हें नयी-नयी बातें सूझती हैं, उनकी बुद्धि में दिव्य प्रकाश अवतरित होता है। वे अतिथि हैं। ये दिव्य प्रकाश रूपी अतिथि आसङ्ग अर्थात् तल्लीनता व तन्मयता का परिणाम है। इसलिये हम इन्हे मेध्यातिथि को दिये गये आसङ्ग के धन व ऐश्वर्य कह सकते हैं। इस दृष्टि से यदि हम प्रथम मन्त्र को देखे तो मन्त्र का अर्थ इस प्रकार होगा।

स्तुहि स्तुहीदेते घा ते मंहिष्ठासो मघोनाम्।
निन्दिताश्वः प्रपथी परमज्या मघस्य मेध्यातिथे ।।

ऋ० ८।१।३० ।।

(मेध्यातिथे) हे मेध्यातिथि ! (स्तुहि

स्तुहि) तू मेरी बार-बार स्तुति कर (एते ते) ये तेरे स्तोत्र (घ) निश्चय से (मघोनाम् मंहिष्ठास.) ऐश्वयो के देने वाले हैं । मैं आसङ्ग कैसा हूँ ? (निन्दिताश्व.) तेरे घोड़ों को मैंने निन्दित कर दिया है। और मैं (प्रपथी) श्रेष्ठ मार्ग का यात्री हूँ (मघस्य) ऐश्वर्य को बीधने के लिये (परमज्य·) श्रेष्टज्या [धनुष की डोरी] वाला हू ।

मन्त्र के पूर्वार्ध मे आसङ्ग मेध्यातिथि से यह कहता है कि, हे मेध्यातिथि ! तू मेरी बार-बार स्तुति कर। ये तेरे स्तोत्र तुझे ऐश्वर्यो को दिलाने वाले होगे।

यह स्वाभाविक बात है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्तुति व प्रशंसा से प्रसन्न होता है। और स्तुति करने वाले को जो कुछ वह दे सकता है, देता है। परन्तु यहां पर मेध्यातिथि की आसङ्ग के प्रति स्तुति मनुष्य के अपने अन्दर एक रूप की दूसरे रूप के प्रति है। मनुष्य का एक रूप मेध्यातिथि का है, अर्थात् उसकी मेधाबुद्धि में अतिथि आ रहे हैं। और दूसरा रूप आसङ्ग अर्थात् लगाव तन्मयता आदि का है। किसी की मेधाबुद्धि

अपने आप में चाहे कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो, परन्तु जब तक वह ध्येय वस्तु के प्रति प्रयोग द्वारा आसङ्ग भाव न पैदा कर लेगा, तब तक उसकी मेधाबुद्धि कुछ भी नही पैदा कर सकती ।

परन्तु प्रश्न यह है कि यह आसङ्ग भाव कैसे पैदा करे ? इस का उपाय वेद मन्त्र में यह बताया कि इस आसङ्ग भाव की बार-बार स्तुति करो उठते, बैठते, खाते, पीते हर समय ध्येय वस्तु का ही चिन्तन हो और आसङ्ग भाव की खूब प्रशंसा हो तो आसङ्ग भाव खूब वृद्धि को प्राप्त करेगा । हम ससार में भी देखते हैं कि जब मनुष्य में किसी सांसारिक विषय के प्रति आसक्ति पैदा हो जाती है, और उसमें आनन्द व रस आने लगता है तब वह उस आसक्ति की बड़ी प्रशसा करता है । इस से आसक्ति और भी बढ़ती है । इसी प्रकार बार-बार स्तुति करने से अच्छे विषयों के प्रति भी आसङ्ग भाव खूब बढ़ाया जा सकता है । तब उस समय मनुष्य को उस विषय में नयी २ बातें सूझेंगी । उस की मेधा बुद्धि में नये-नये दिव्य

प्रकाश पैदा होगे। ये नये नये प्रकाश ही अतिथि हैं और ये ही आसङ्ग के धन हैं जो कि आसङ्ग के द्वारा मेध्यातिथि को दिये जाते हैं।

मन्त्र में उत्तरार्ध मे आसङ्ग अपने रूप को इस प्रकार दिखाता है निन्दिताश्व.' अर्थात् हे मेध्यातिथि! मैंने तेरे अश्वो को निन्दित कर दिया है कहने का भाव यह है कि आसङ्ग भाव इतना तीव्र है कि बुद्धि के घोडे जो कि पदार्थ व ध्येय विषय के प्रति दौड रहे हैं, वे तो थक जाते हैं, परन्तु आसङ्ग भाव अर्थात् तन्मयता की अवस्था अक्षुण्ण बनी रहती है। हम ससार मे ऐसे बहुत से मनुष्य देखते हैं कि जिनकी बुद्धि तो बहुत उत्कृष्ट है, परन्तु उन में आसङ्ग भाव, तन्मयता व स्थिरता आदि नही है। इस लिये वे किसी भी विषय में ससार को अपनी नई देन नही दे पाते। अगला विशेषण है—

प्रपथी--आसङ्ग कहता है कि मैं तो श्रेष्ठ राह का राही हू। अर्थात् अच्छे विषयों के प्रति

ही मनुष्य में आसङ्ग भाव पैदा होना चाहिये। सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति होना अच्छा मार्ग नहीं है अगला विशेषण है–मघस्य परमज्यः।

अर्थात् ऐश्वर्यों को बीधने के लिए इस आसङ्ग के पास धनुष की श्रेष्ठज्या (डोरी) भी है। यहां लक्ष्य बींधने में बुद्धि के घोडों को बाण रूप में दिखा दिया है। ध्येय वस्तु के 'मघ' अर्थात् ऐश्वर्य को बींधने के लिए बुद्धि के जो बाण हैं, वे सतत चिन्तन द्वारा उस पदार्थ पर पडते हैं, जिससे कि उस पदार्थ में निहित ऐश्वर्य बिंध जाता है। बुद्धि के वे बाण आसङ्ग अर्थात् तन्मयता के धनुष पर रखकर छोड़े जाते हैं। इसमें यह अवश्य याद रखना चाहिये कि धनुष की डोरी जितनी अच्छी होगी उतना ही लक्ष्य ठीक बिंधेगा। ऐसी ही लक्ष्य बीधने की कल्पना उपनिषद् में भी आती है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन बेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

आसग (तन्मयता) के रथ में मेध्यातिथि अर्थात् बुद्धि के घोड़े जुते हैं, वे रथ को ध्येय वस्तु तक ले जाते हैं, और उस की गहराई

तक पहुंच जाते हैं। इस अवस्था में, बुद्धि में जो सूक्ष्म रहस्यों को देखने की शक्ति है, वह पदार्थों के गुह्य रहस्य को जान लेती है।

मन्त्र इस प्रकार है—

आयदश्वान् वनन्वतः श्रद्धयाहं रथे रुहम्।
उत वामस्य वसुनश्चिकेतति यो अस्ति याद्वः पशुः॥
ऋ० ८।१।३१।

हे मेध्यातिथि ! (वनन्वतः) पदार्थों का सम्यक् प्रकार से सेवन करने वाले, तेरे (अश्वान्) अश्वों को (अह) मैंने (यत्) जब (श्रद्धया) श्रद्धा से (रथे आरुहम्) रथ में लगाया अथवा चढाया है। [उस समय पदार्थ तक पहुच कर] (यः याद्वः पशुः अस्ति) जो तेरा यदु सम्बन्धी पशु अर्थात् सूक्ष्म तत्त्वों को देखने की शक्ति (सूक्ष्मस्य द्रष्टा,–सायण) है, वह (वामस्य वसुनः चिकेतति) पदार्थ में निहित वांछनीय वसु को जान लेती है।

यहां अश्व मेध्यातिथि के हैं, और रथ आसग का है। आसग कहता है कि हे मेध्यातिथि ! मैंने तेरे अश्वों को श्रद्धा से अपने रथ में जोता है।

यहा मन्त्र में अश्वों को रथ में जोतने के लिए 'आरुहम्' धातु का प्रयोग हुआ है। सायणाचार्य ने इस धातु के प्रयोग में णिजर्थ का अन्तर्भाव मान कर इस का अर्थ रथ में घोड़ों को जोतना ऐसा किया है। हम भी यह मान लेते हैं। परन्तु एक विचारणीय बात यह है कि 'रुह्' धातु का प्रमुख अर्थ 'चढना' होता है। यदि हम 'रुह्' धातु का चढ़ना अर्थ करें तो हमे मन्त्र का यह अर्थ करना पड़ेगा कि इस रथ में आसग ने घोडों को चढ़ाया है। इस में कोई आश्चर्य नही होना चाहिये। यह रथ ही ऐसा है, जिस पर घोडे चढ़ते हैं। आसग अर्थात् तन्मयता के ऊपर बुद्धि के घोड़े चढ़ कर ध्येय विषय के प्रति आते हैं, यह भाव यहां दिखाया जा सकता है। इस लिए 'आरुहम्' का अर्थ 'जोतना' या 'चढाना' कर देवे बात एक ही है। आसग कहता है कि मैंने इन घोड़ों को श्रद्धा से चढाया है या जोता है। बुद्धि के घोड़े किधर जा रहे हैं, और किधर जाना चाहिये इत्यादि बातों से आसंग को तो कोई सरोकार नही, वह तो आसग अर्थात् तन्मयता की अवस्था बनाये रखता है। इस से एक ध्वनि निक-

लती है कि जो व्यक्ति अनुसन्धान करने वाले हैं, या किसी प्रकार का बौद्धिक अन्वेषण करने वाले हैं । उन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिये और बौद्धिक नियन्त्रण तो किसी प्रकार होना ही नही चाहिए ।

इस अवस्था में जिस समय कि आसग के रथ में जुते हुए बुद्धि के घोडे ध्येय विषय के प्रति जाते हैं, और उस विषय में प्रवेश कर जाते हैं, तो उस विषय का सम्पूर्ण रहस्य उन के सामने खुल जाता है । इसी बात को मन्त्र के उत्तरार्ध में इस प्रकार कहा कि मेध्यातिथि का यदु नामक पशु वांछनीय रहस्य (वसु) व ऐश्वर्य को जान लेता है । यदु सम्बन्धी पशु क्या है ? यह तो हम फिर कभी आप के सामने रक्खेंगे परन्तु इस का भाव यह है कि विषय या वस्तु के अन्दर निहित रहस्य व ऐश्वर्य को देखने की शक्ति (पश्यतीति पशुः) जब मनुष्य में जागृत हो जाती है तब वह यदु नामक पशु कहलाता है ।

आसङ्ग का रथ —

अब सक्षेप मे हम आस के रथ के सम्बन्ध मे कुछ विचार करते हैं । आसग का रथ कैसा है

यह अगले मंत्र में बताया गया है।

य ऋज्रा मह्यं मामहे सह त्वचा हिरण्यया।
एष विश्वान्यभ्यस्तु सौभगासंगस्य स्वनद्रथः ॥
ऋ० ८।१।३२।

(यः) जिस आसंग ने (मह्य) मुझे (हिरण्यया त्वचा सह) हिरण्यमय त्वक् अर्थात् प्रकाश के साथ (ऋज्रा ममहे) सरलताओं को प्रदान किया है। (एष आसंगस्य स्वनद्रथः) यह आसग का शब्दायमान रथ (विश्वानि सौभगा) सम्पूर्ण सौभगों को (अभ्यस्तु) अभ्यास करे अर्थात् बार-बार दोहरावे।

आसग अर्थात् तन्मयता की अवस्था से दो बाते मनुष्य में पैदा होती हैं। एक (ऋज्रा) सरलता और दूसरे (हिरण्यत्वक्) प्रकाश। मनुष्य की चचलावस्था में बुद्धि की विषय के प्रति गति सरल नहीं होती है। वह ध्येय विषय के प्रति जाती हुई इधर उधर के पदार्थो व विषयों को भी छूती जाती है। बुद्धि की सरल गति भी तभी समझनी चाहिए जब कि वात रहित स्थान में रक्खे हुए दीपक की ज्योति की तरह वह सीधी

रेखा में जावे। परन्तु ज्यों ज्यों मनुष्य में आसग भाव अर्थात् तन्मयता की अवस्था बढती जाती है त्यों-त्यों उस की गति भी सरल होती जाती है। ऐसा व्यक्ति शरीर की दृष्टि से भी ऋजुकाय बन जाता है। यह सरलता का होना आसग के ही कारण है। दूसरी वस्तु जो आसंग देता है वह है 'हिरण्यत्वक्' अर्थात् प्रकाश ससार में जितने भी ज्योतिर्मय तत्व हैं, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत इत्यादि ये सब ज्योति व प्रकाश के कारण हिरण्यत्वक् वाले हैं। हिरण्य ज्योति को कहते हैं। वे ज्योतियां कई तो चक्षु द्वारा देखी जा सकती हैं, परन्तु कई ज्योतियां मन व बुद्धि आदि द्वारा दिखाई देती हैं। बुद्धि को किसी विषय का रहस्य मिल जाना–इसे हम दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि बुद्धि का हिरण्मय त्वचा के साथ सम्पर्क हुआ है। इसलिए आसंग अवस्था में ये दो बातें मनुष्य को प्राप्त होती हैं, एक तो सरलता दूसरा प्रकाश। इन की प्राप्ति ठीक प्रकार से हो इस का साधन मन्त्र के उत्तरार्ध में इस प्रकार बताया कि आसंग का शब्दायमान रथ तत्तत् विषय का अभ्यास करे अर्थात् उसे बार-बार दोहरावे। हम ससार में यह

देखते हैं कि मनुष्य जब किसी गहन विषय का चिन्तन कर रहा होता है, तो कभी २ गुनगुनाने शब्द करने या गाने लगता है। ध्येय विषय पर मन के टिकाये रखने में यह गुनगुनाना या मुह से किसी प्रकार का स्वर निकालना बहुत सहायक है। चिन्तन की अवस्था में मुह से स्वर निकालते रहना ही आसंग का (स्वनद्रथ) शब्दायमान रथ है। भगवान् के चिन्तन में जप व स्वर आदि आसग के ही शब्दायमान रथ हैं। यह रथ करता क्या है कि जो-जो (सौभग) ध्येय विषय में निहित रहस्य हैं, उन को बार बार दोहराता है। इस प्रकार आसग अर्थात् तन्मयता का रथ गुनगुनाते व स्वर निकालते हुए ध्येय विषय की तरफ जाता है।

आसङ्ग का मेधानिथि को दान

> **अध प्लायोगिरति दासदन्यानासंगो अग्ने दशभि सहस्रैः।**
> **अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो नडा इव सरसो निरतिष्ठन् ॥**
>
> ऋ० ८।१।३३

मन्त्र के पूर्वार्ध में मेधातिथि को सम्बोधन

करके कहा गया है– (अग्ने) हे अग्नि स्वरूप मेधातिथि ! (प्लायोगिः आसङ्ग) प्लयोग का पुत्र आसग (दशभि सहस्रैः) दश को हजारों रूपों में करके तुमको (अन्यान् अति) अन्यों से अधिक (दासत्) देता है।

अब मन्त्र के उत्तरार्ध में मेधातिथि क्या कहता है ? (अध) इस दान के अनन्तर (उक्षणः दश) सिंचन में समर्थ दसों एन्द्रियिक शक्तियाँ (मह्य रुशन्तः) मेरे लिये प्रदीप्त होती हुई (सरसः नडा इव) तालाब के किनारे से सरकंडों की तरह (निरतिष्ठन्) आवरण के बाहर निकल आयी।

इस मन्त्र में मेधातिथि को अग्नि शब्द से सम्बोधित किया गया है। मेधातिथि कण्व नामक अग्नि की सन्तान है। इसलिये यह मेधातिथि भी अग्नि का ही एक रूप है । इस विषय को हमने कण्व ऋषि पर लिखते हुये स्पष्ट कर दिया है। मन्त्र में कहा गया है कि प्लयोग राजा का पुत्र असंग मेधातिथि को औरों से भी अधिक ऐश्वर्य देता है। वह ऐश्वर्य दश गौवों सम्बन्धी है। इन दश गौवों को भी वह हजारों रूपों में देता है ।

इसी बात को मेधातिथि मन्त्र के उत्तरार्ध में इस प्रकार स्वीकार करता है कि मेरे अन्दर प्रदीप्त ये दश गौए मुझे इस प्रकार प्राप्त हुई जैसे कि तालाब के किनारे हजारों सरकडे निकल आते हैं। मन्त्र गत भाव को समझने के लिये पहले हमें यह देखना चाहिये कि ये १० गौए क्या हैं ? इनको मन्त्र में 'उक्षण.' कहा गया है। 'उक्षण' शब्द सीचने के अर्थ में आता है। अर्थात् सीचने वाले ये चाहे बैल हो या गौए हो बात एक ही है। ये दश गौए पाच ज्ञानेन्द्रिया हैं जो कि दो दो मे विभक्त हो कर १० हो जाती हैं। ये पाच ज्ञानेन्द्रिया दस में इस प्रकार विभक्त हो सकती हैं, २ कान, २ नाक, २ आख, २ मुख (रस, वाक्) २ त्वचा (ज्ञान, प्रतिक्रिया)। आख, नाक, कान आदि जो दो-दो में विभक्त हैं. स्थूल दृष्टि से इनका कार्य एक जैसा ही प्रतीत होता है। परन्तु इनका यह स्थूल विभाग है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो दाहिनी आंख और बाई आंख में बहुत बड़ा भेद है। यदि इस पर विचार किया जाये तो प्रासगिक विषय से हम बहुत दूर चले जायेंगे। इसलिये उदाहरण के तौर पर यहा इतना

ही कह देना पर्याप्त है कि दाहिनी आंख पुरुष है तो बाई आंख स्त्री है– ऐसा शास्त्रों ने माना है । यह क्यों माना है ? इसमें क्या रहस्य है ? यह हम फिर कभी दिखायेंगे। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। इस प्रकार ये ज्ञानेन्द्रिया १० में विभक्त हुई बाह्य जगत् से ज्ञान का सग्रह कर अन्दर सिंचन करती रहती हैं। इसलिये इन्हे 'उक्षण' सींचने वाली कहा है । जब मनुष्य में आसङ्ग अर्थात् तल्लीनता व एकाग्रता से दिव्यज्ञान का आविर्भाव होता है तो ये दसों हजारों रूपों में परिणत हो जाती हैं । इनमें अनन्त-शक्ति, अनन्त-विभूति प्रादुर्भूत हो जाती है। इसलिये मन्त्र के पूर्वार्ध में कहा है कि यह आसग - भाव "दशभि सहस्रैः" इन दसो को हजारों रूपों में कर देता है। ये दस ऐन्द्रियिक शक्तिया हजारों रूपों में विभक्त हो कर मेधातिथि को किस प्रकार प्राप्त होती हैं, यह मन्त्र के उत्तरार्ध में एक उपमा द्वारा दिखाया गया है । वह उपमा इस प्रकार है कि जैसे तालाब के किनारे हजारों सरकण्डे उग आते हैं, उसी प्रकार ये एन्द्रियिक शक्तियां भी आन्तरिक तालाब से उगती

हैं। यह आन्तरिक तालाब स्थूल दृष्टि से मस्तिष्क का द्रवकोष (Ventricles) हैं जहां से कि ये ऐन्द्रियिक शक्तिया निकलती हैं और समाविष्ट होती हैं।

आसंग का नपुंसकत्व और शश्वतीनारी--

ऋ० १।८।३४ मन्त्र के भाष्य मे सायणाचार्य ने आसंग के सम्बन्ध में एक कथानक दिया है जिसका भाव सक्षेप में यह है कि " यह १ आसग कभी देव-शाप से नपुसक हो गया । उसकी शश्वती नाम की स्त्री ने उससे खिन्न हो कर महान् तप किया। उस तप के प्रभाव से आसग में फिर पुंस्त्व की प्राप्ति हुई।" यह कथानक मनुष्य की आन्तरिक स्थिति का एक स्वाभाविक चित्रण

१. अयमासंगो राजा कदाचिद्देवशापेन नपुसको बभूव । तस्य पत्नी शश्वती भर्तुर्नपुसकत्वेन खिन्ना सती महत्तपस्तेपे । तेन च तपसा स पुंस्त्व प्राप ।

ऋ० ८ । १ । ३४ का भाष्य

है। दूसरा भाव यह है कि मनुष्य की कभी-कभी यह भी स्थिति हो जाती है कि ध्येय विषय के प्रति आसंग भाव अर्थात् तन्मयता व एकाग्रता की अवस्था बनी हुई है। मन सुस्थिर है पर विषय का स्पष्टीकरण व बुद्धि में स्फुरणा नहीं होती। इसी को कथानक-प्रिय ऋषियों ने इस रूप में चित्रित किया कि वह आसग नपुसक हो गया। शश्वती नारी सूक्ष्म की शक्ति है, प्रतिभाशक्ति है। जिस समय आसग भाव भी हो और प्रतिभा में स्फुरण व ज्ञान का अवतरण हो तो उस अवस्था में प्रतिभा में नये-नये उन्मेष के रूप में नवीन - नवीन ज्ञान का प्रजनन होता रहता है। इसप्रकार मेधातिथि में नये-नये ज्ञान के उन्मेष होना उसमें पुंस्त्व की प्राप्ति है। अब हम मन्त्र का अर्थ दिखाते हैं।

मन्त्र इस प्रकार है—

अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः।
शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि।

ऋ० ८।१।३४

(अस्य) इस आसग व तन्मयता के प्रभाव

से (अवरम्बमाण.) द्युलोक से, ऊर्ध्व से, सूक्ष्मता से अधोभाग में, स्थूलता में अवतरण करता हुआ (ऊरुः) विस्तृत व व्यापक दिव्यज्ञान का स्फुरण (अनस्थ·) बिना किसी ढाचे व स्थूल आश्रय के (पुरस्तात् स्थूर ददृशे) सामने स्थूल रूप में दिखायी देता है। वह (शश्वती नारी) शाश्वतिक प्रतिभाशक्ति (अभिचक्ष्य) उस ज्ञान को देख कर (आह) कहती है, (अर्य) स्वामिन् (सुभद्र भोजनं बिभर्षि) तू उत्तम कल्याणकारी भोजनों को धारण कराता है।

इससे पूर्व के मन्त्र में दस इन्द्रियो सबन्धी ज्ञान, शक्ति का सरोवर के किनारे उत्पन्न सरकण्डो के समान ऊर्ध्वारोहण व उद्गम बताया गया था। परन्तु इस मन्त्र में दिव्य-ज्ञान का उर्ध्व से नीचे की ओर अवतरण बताया गया है। सामान्य मनुष्य अपने ज्ञान को स्याही और कागज के स्थूलाश्रय से लिपिबद्ध कर सकता है। वही ज्ञान पुस्तक आदि रूप में हमें प्रत्यक्ष होता है। परन्तु साधना में एक स्थिति वह भी आती है जब कि

बिना स्थूलाश्रय (अनस्थः) के दिव्य ज्ञान स्थूल रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऋषियों को अतीत और अनागत का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देता है (अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते) उसी रीति का चित्र मन्त्र में खीचा गया है। अस्थि, मनुष्य की हड्डियो को ही नही कहते। वैदिक भाषा में यह स्थूलाश्रय का वाचक है। यह बहुत व्यापक शब्द है। इस सम्बन्ध में हमने अन्यत्र विचार किया है। अतः मन्त्र का भाव यह हुआ कि ऊपर से अवतरण करता हुआ या लटकता हुआ सा विस्तृत व व्यापक दिव्य ज्ञान बिना किसी स्थूलाश्रय के स्थूल रूप में योगियो को प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

इन्द्र मेध्यातिथि का मेष (मेढ़ा)--

ऋ० ८।२।४० मन्त्र मे इन्द्र को मेध्यातिथि का वाहन बताया गया है। अर्थात् मेध्यातिथि इन्द्र पर सवार होता है। मन्त्र मे कहा गया है कि इन्द्र मेष का (मेढा) रूप धारण करता है और मेध्यातिथि उस पर सवार होता है। वह मन्त्र इस प्रकार है--

इत्था धीवन्तमद्रिवः काण्वं मेध्यातिथिम् ।
मेषो भूतोऽभियन्नय ॥ ऋ० ८।२।४०।

(अद्रिवः) हे वज्रिन् इन्द्र ! (काण्व मेध्यातिथिम्) कण्व के पुत्र मेध्यातिथि को (मेषः भूतः) उस का मेष रूप वाहन बन कर (अभि-यन्) शत्रुओं से लड़ता हुआ तू (अय) उसे स्वर्ग (पदार्थ के रहस्य तक) में ले गया।

इस मन्त्र के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों मे कई कथानक आते हैं। उन सब का यहा विवेचन कर सकना कठिन है। कथानक का अभिप्राय हम यहा दिखाते हैं। इस मन्त्र व इस मन्त्र से निर्मित कथानक का संक्षिप्त भाव यह है कि इन्द्र यहां दिव्य मन है और मेध्यातिथि बुद्धि है। यह मेध्या-तिथि बुद्धि दिव्य मन पर आरूढ हो पदार्थ के रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न करती है। पदार्थ के रहस्यों को छिपाने वाले कई प्रकार के आव-रण उस के शत्रु हैं। उन से यह इन्द्र मेष (मिष स्पर्द्धायाम्) मेढ़ा बन कर लड़ती है। मेढ़ों की लड़ाई जिन्होंने देखी है वे जानते हैं कि वे कितनी

स्पर्धा से लडते हैं । इसी प्रकार वह इन्द्र भी पदार्थ के रहस्यो को छिपाने वाले शत्रुओं से मेंढा बन कर खूब लड़ता है । जब वह इन्द्र विजयी हो जाता है तब मेध्यातिथि को पदार्थ का अन्तिम रहस्य (स्वर्ग) जहा रखा हुआ है, उस स्वर्ग तक पहुचा देता है । अर्थात् बुद्धि को अभीष्ट रहस्य का पता चल जाता है । इस का भाव यह है कि अध्यात्म में अथवा प्रकृति के अनुसन्धान में लगा हुआ व्यक्ति किसी भी प्रकार की विपत्तियो की परवाह न करके यदि रात दिन अपने ध्येय के चितन में लगा रहता है और धीर बना रहता है, तो अत में रहस्य का कभी न कभी स्पष्टीकरण अवश्य हो जाता है । ध्येय विषय में निहित रहस्य को छिपाने वाले आवरण रूप शत्रु से मेष (मेंढा) बन कर लडने का यही भाव है ।

मेधातिथि व मेध्यातिथि में अभेद—

अब विचारणीय विषय यह है कि मेधातिथि व मेध्यातिथि ये दो विभिन्न ऋषि हैं या एक ही ऋषि के ये दो नाम हैं । सायणाचार्य के ऋग्वेद भाष्य मण्डल ८ के प्रारम्भ मे अनुक्रमणी की कुछ

पंक्तियाँ इस प्रकार आती हैं 'अस्य सूक्तस्य मेधातिथिमेध्यातिथिनामानौ द्वावृषी तौ च कण्वगोत्रौ' अर्थात् इस सूक्त के मेधातिथि और मेध्यातिथि नाम के कण्वगोत्रोत्पन्न ये दो ऋषि थे। इस प्रकार इस उद्धरण में मेधातिथि और मेध्यातिथि ये दो ऋषि माने गये है। इस सम्बन्ध मे हमारा विचार यह है कि इस उद्धरण के आधार पर इन में कोई भेद है भी तो वह बहुत सूक्ष्म व अत्यल्प भेद होगा। तत्सम्बन्धी शास्त्रीय प्रकरणों मे भी हमे इनमे कोई विभेद दृष्टिगोचर नही होता। ऋग्वेद के ८ म मण्डल के १म सूक्त के मेध्यातिथि और मेधातिथि ये दोनों ऋषि मान गये हैं और २ य सूक्त का मेधातिथि ऋषि है, परन्तु मन्त्रों मे मेध्यातिथि का ही नाम आता है मेधातिथि का नही। और फिर इसी ८ वे मण्डल के १ म सूक्त के ३०-३३ मत्र आसग प्रायोगि और मेध्यातिथि के हैं। ३० वे मन्त्र में मेध्यातिथि का नाम भी आता है अतः अपनी स्तुति मे प्रसन्न हो कर आसंग राजा मेध्यातिथि को ही ऐश्वर्य देता है न कि मेधातिथि को। परन्तु सायणाचार्य ने ८ म मण्डल के प्रारम्भ में लिख दिया कि 'पश्चात्तपो-

बलेन मेधातिथेः प्रसादात् पुमान् भूत्वा तस्मै बहुधन दत्वा स्वकीयमन्तरात्मान दत्तदान स्तुहि स्तुही-त्यादिभिश्चतसृभि ऋग्भिरस्तौत् ।' इसका भाव यह है कि अपने तपोबल तथा मेधातिथि की कृपा से आसग स्त्री रूप का परित्याग कर पुरुष बन गया । और 'स्तुहि स्तुहि' इत्यादि ४ ऋचाओं द्वारा मेधातिथि द्वारा स्तुति किये जाने पर प्रसन्न हो कर उसने उस को प्रभूत ऐश्वर्य प्रदान किया । प्रश्न यह है कि मन्त्र मे जब मेध्यातिथि का नाम आता है तो सायणाचार्य ने मेधातिथि नाम क्यो ग्रहण किया ? इस का कारण हमें यही प्रतीत होता है कि प्राचीन ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इनके भेदाभेद को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों मे नही दर्शाया गया है । उन्होंने भी मेध्यातिथि के स्थान पर मेधातिथि का प्रयोग किया है । उदाहरण के तौर पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के निम्न प्रकरण देखे जा सकते हैं । (श.प ३।३।४।१८, षड्विंश १।१ तै०आ० १।१२।३) जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि ऋ० ८।२।४० मन्त्र के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थो मे कथानक बनाये गये हैं । मन्त्र मे तो मेध्यातिथि नाम आता है जिसका कि इन्द्र मेषरूप धारण कर वाहन बना

है परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के उपर्युक्त स्थलों मे इन्द्र को मेधातिथि का वाहन बनाया है। इस से यही पता चलता है कि ब्राह्मणकार मेधातिथि व मेध्यातिथि मे कोई भेद नही करते थे। सहितान्तर्गत दो मन्त्रों मे ही मेधातिथि का नाम आता है, जहा कि कथानको का कोई सबन्ध प्रतीत नही होता।

मेधातिथि का विभिन्दुक असुर से गौएं छुड़ाना

ऋ० ८।१।१-३ मन्त्रों के आधार पर ताण्डच-महाब्राह्मण मे एक कथानक आता है, वह कथानक मेधातिथि सम्बन्धी है जो कि निम्न प्रकार है—

मैधातिथ भवति ता० ब्रा० १५।१०।११ मा चिदन्यद्विशसत० इत्यादि तीन मन्त्रों मे गाया गया साम मेधातिथि दृष्ट साम कहलाता है। इस साम का फल इस प्रकार बताया गया है—

एतेन वै मेधातिथिः काण्वो विभिन्दुकाद् व्यूध्नीर्गा उदसृजत पशूनामवरुद्धचै मैधातिथं क्रियते।
ता० ब्रा० १५। १०। १२

अर्थात् इन तीन ऋचाओं के साम द्वारा कण्वपुत्र मेधातिथि ने विभिन्दुक नामक असुर से

खूब प्रवृद्ध ऊधस् वाली गौए छुडायी। इसलिये पशु प्राप्ति के लिये मेधातिथि नाम का यह साम गाया जाता है।

अब हम इस कथानक के भाव को स्पष्ट करते हैं। जैसे कि हम देख चुके हैं कि मेधातिथि वह है जिसकी मेधाबुद्धि में अतिथि आते हैं। ये अतिथि तभी आते हैं जब कि मनुष्य में आसङ्ग भाव अर्थात् अत्यन्त तन्मयता व अटूट एकाग्रता पैदा हो जाती है। मनुष्य के मस्तिष्क में ऐन्द्रियिक दिव्यशक्तिया जिन्हे कि वेद में गौ नाम से सम्बोधित किया गया है आवरण से आच्छादित रहती हैं। उन शक्तियों व दिव्यज्ञान को आवृत करने वाले उस आवरण को ब्राह्मण ग्रन्थ की परिभाषा में विभिन्दुक कह सकते हैं जिसका कि मेधातिथि द्वारा भेदन किया जाता है। सायणाचार्य ने इसकी विभेद-नशीलात् यह व्युत्पत्ति की है। जिसका भेदन का स्वभाव है ध्येय विषय से मन को हटाना ध्यान का भेदन करते रहना विभिन्दुक है। भगवान् की भक्ति से मन को हटाना भी विभिन्दुक है। यह भाव उस मन्त्रमें भी है जिस मन्त्र के साम द्वारा विभिन्दुक को नष्ट किया जाता है।

मन्त्र इस प्रकार है—

मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत।
ऋ ८।१।१

(सखाय) हे मित्रो (अन्यत् चित्) इन्द्र की स्तुति के अतिरिक्त अन्य किसी की (मा विशंसत) स्तुति मत करो, इसप्रकार अन्य की स्तुति से (मा रिषण्यत) अपनी हिंसा मत करो। (इन्द्र इत् स्तोता) इन्द्र की स्तुति करने वाला ही (सुते) सोम सवन होने पर (वृषण-सचा) ज्ञान व सुख की वर्षा करने वाले इन्द्र से सम्पर्क करता है, अतः (उक्था मुहु शंसत) उत्थान व उन्नति की बातों को बार-बार कहो।

उपर्युक्त मन्त्र से यह भाव टपक रहा है कि इन्द्र की स्तुति के समय में मन में अन्य किसी प्रकार का शसन व जल्पन नहीं होना चाहिये। इन्द्र की स्तुति का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होते रहना चाहिये परन्तु यह होता नहीं। यह विभिन्दुक असुर उस स्तुति प्रवाह को भेदन करता रहता है। ध्यान व स्तुति के समय अन्य विरोधी विचार

हठात् पैदा होते रहते हैं। ये विरोधी व विभिन्न विचार विभिन्दुक असुर हैं। अत मेधातिथि की मेधा बुद्धि में अतिथि आवे इसके लिये विभिन्दुक को नष्ट करना भी आवश्यक है।

प्रगाथ ऋषि

वेद के ऋषियो मे एक ऋषि प्रगाथ है और छन्दों मे एक छन्द का नाम भी प्रगाथ है। प्रश्न यह है कि प्रगाथ ऋषि का प्रगाथ नाम क्यो हुआ? यदि यह कहा जाये कि उस ने प्रगाथ छन्दों का दर्शन किया है इसलिये उस का नाम प्रगाथ हो गया, तो यह ठीक नही। क्योंकि प्रगाथ छन्दों का दर्शन सोभरि आदि अन्य कई ऋषियों ने भी किया है। और यह भी नही कि प्रगाथ ऋषि ने केवल प्रगाथ छन्दो का ही दर्शन किया हो। प्रगाथ छन्दों के अतिरिक्त अन्य छन्दों का भी दर्शन प्रगाथ ऋषि ने किया है। इस लिये यह कथन कि प्रगाथ छन्दोंका दर्शन करने के कारण प्रगाथ ऋषि का नाम प्रगाथ पड़ा है युक्तियुक्त नही है।

प्रगाथ में क्या रहस्य है उसका क्या स्वरूप है इस सम्बन्ध में हम शास्त्रों के आधार पर कुछ विचार करते हैं।

ऐतरेय आरण्यक २।२।२ में आता है--

स इदं सर्वमभिप्रागाद् यदिद किं च स यदिदं-

सर्वमभिप्रागाद्, यदिदं किं च तस्मात् प्रगाथा-स्तस्मात् प्रगाथा इत्याचक्षत एतमेव सन्तम् ।।

अर्थात् यह प्राण इस सम्पूर्ण शरीर में प्रकृष्ट रूप से चारों ओर गया हुआ है। क्योंकि यह प्राण इस सम्पूर्ण शरीर में चारों ओर पहुचा है, इसलिए यह प्रगाथ कहलाता है।

सायणाचार्य ने जो इस पर भाष्य किया है वह भी हमें यहां देख लेना चाहिये। वह लिखता है—'स प्राण इदं सर्वं शरीरजातं स्वानुप्रवेशेनाभि-प्रगतवांस्तस्मात् प्राणदेवताया मूर्तिविशेषप्रतिपादका ऋग्द्वयात्मकसूक्तरूपा मन्त्रविशेषा प्रगाथा इत्युच्यन्ते। तन्मन्त्रद्रष्टारो महर्षयोऽपि प्रगाथ-नामकाः।

अर्थात् प्राण इस सम्पूर्ण शरीर में अपने प्रवेश द्वारा प्रकृष्ट रूप से सर्वत्र पहुचा हुआ है। इस कारण प्राण देवता की मूर्ति विशेष का प्रतिपादन करने वाली दो ऋचाओं से प्रग्रन्थन नियम से बने हुए मन्त्र प्रगाथ कहलाते हैं। उन प्रगाथ नामक मन्त्रों का दर्शन करने वाले महर्षि भी प्रगाथ नाम से कहे जाने लगे।

इस उपर्युक्त प्रकरण में दो एक बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। एक तो यह है कि प्राण का प्रगाथ नाम इस लिए पड़ा कि वह 'प्रगतवान्' सम्पूर्ण शरीर में प्रकृष्ट रूप से गया हुआ है। इसी प्रकार प्रगाथ छन्द में एक ऋचा दूसरी ऋचा से प्रकृष्ट रूप से गुथी हुई होती है। इस लिए ऐसे मन्त्र भी प्रगाथ कहलाते हैं। दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि इन प्रगाथ छन्दों का दर्शन करने वाले महर्षि भी प्रगाथ कहलाते हैं। इस से यह ध्वनित होता है कि किसी एक ऋषि का नाम प्रगाथ नहीं है जो भी प्रगाथ छन्दों का दर्शन कर ले वह प्रगाथ होजाता है। परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा विचार तो यह है जैसी कि हमारी मान्यता है कि वेदों के ऋषि व्यक्ति नहीं हैं ये विशिष्ट प्राण हैं। इन ऋषि प्राणों का जब किसी दूसरी वस्तु से प्रकृष्ट रूप से ग्रन्थन होता है तब वे प्रगाथ कहलाने लगते हैं। इस लिए हमारे विचार में किसी ऋषि-विशेष का नाम प्रगाथ नहीं है।

प्रगाथ छन्द

अब हम कुछ विचार प्रगाथ छन्द पर भी

करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ३।१७ के सायणाचार्य के भाष्य में आता है--

> **द्वयोर्ऋचोः समूह प्रगाथ तथा चाश्वलायन. आह–तृचः प्रतिपदनुचरा द्व्यृचाः प्रगाथाः (५।१४।७) ऋग् द्वयमेवानुष्ठानकाले तृच-रूपेण प्रग्रथ्यते तस्मादयं प्रगाथ इत्युच्यते ।**

अर्थात् अनुष्ठान के समय में दो ऋचाओं का इस प्रकार ग्रन्थन किया जाता है कि वे तीन ऋचाएं बन जाती हैं। यह ऋचाओं का प्रग्रन्थन कई प्रकार से होता है दो ऋचाएं मिल कर एक ऋचा भी बनती है। इस के उदाहरण वेदों मे 'विषमा बृहती' और 'समा सतो बृहती' से मिलकर बने हुए प्रगाथ हैं। प्रगाथ में दो ऋचाओं से तीन ऋचाये भी बनती हैं। इसी प्रकार और भी नियम हैं। प्रगाथों का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों व सूत्र ग्रन्थों में बहुत आता है। वेद में भी हमें दो मन्त्रों से प्रग्रन्थन के नियमानुसार तीन मन्त्र बनाये गये प्रतीत होते हैं। ऋग्वेद के दो मन्त्र (ऋ ७ १६। १, २) यजुर्वेद में प्रगाथ नियमानुसार तीन बने हैं ऐसा प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—

**एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ।**
ऋ० ७।१६।१ ।

**स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः ।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ।।**
ऋ० ७।१६।२ ।

ये दो मूलमन्त्र थे । प्रगाथ नियमानुसार जिन के तीन मन्त्र बनाये गये । वह नियम यह है कि मन्त्र के चतुर्थ पाद (विश्वस्य दूतममृतम्) को दो वार आवर्तन कर के मन्त्रार्ध बना लिया । यथा—'विश्वस्य दूतममृत विश्वस्य दूतममृतम्' इस प्रकार यजुः १५।३३ वें मन्त्र का यह पूर्वार्द्ध हुआ । अब उत्तरार्ध बनाते समय उपर्युक्त द्वितीय मन्त्र का पूर्वार्ध जोड़ दिया तो पूरा मन्त्र यह बना ।

**'विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम्'
स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः ।**

अब तृतीय मन्त्र का ग्रन्थन दिखाते हैं । इस उपर्युक्त मन्त्र के चतुर्थ पाद को दो बार आवर्तन किया तो वह मन्त्र का पूर्वार्ध बन गया । वह इस प्रकार है—

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः ।

इस मन्त्रार्ध में अवशिष्ट मन्त्रार्ध जोड दिया तो इस प्रकार मन्त्र हो गया--

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः ।
सु ब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ॥

इस प्रकार प्रगाथ नियमों द्वारा दो ऋचाओं की तीन ऋचाए बनाई जाती हैं ।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेद १५।३२, ३३, ३४ के ये तीनो मन्त्र ऋग्वेद के दो मन्त्रों से बने हैं । ऋग्वेद में (७।१६।१-२) ये दोनों मत्र प्रगाथ छन्द में हैं । इसी प्रकार यज्ञ आदि के अनुष्ठान काल में प्रगाथ छन्द बनाने का विधान है । इस से कई नये मन्त्रों की रचना हुई है । और इस प्रकार प्रग्रन्थन से बने मन्त्रों का एक विशेष प्रयोजन होता है । मन्त्रों के अर्थों में भी ये सहायक होते हैं और एक विशिष्ट नियम को ले कर होते हैं । यदि वह नियम लागू न हो तो मन्त्र का अभीष्ट अर्थ न हो सकेगा और उस से वांछित फल प्राप्त न हो सकेगा । उदाहरण के रूप में हम

एक प्रगाथ को यहां दर्शाते हैं — ऋग्वेद ७।३२।२६,२७ ये दो मन्त्र हैं जो कि इस प्रकार हैं--

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ऋ० ७।३२।२६।

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो माशिवासो अव क्रमुः। त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥ ऋ० ७।३२।२७।

ये दो मन्त्र हैं। ये स्वयं प्रगाथ छन्द में हैं परन्तु फिर भी इन दोनों का पुनः इस प्रकार प्रग्रन्थन करना है जिस से ये तीन मन्त्र बन जावें। ऐतरेय ब्राह्मण में इस का प्रयोजन यह बताया कि इस से ये सूर्योपासना में विनियुक्त किये जा सकते हैं। क्योंकि सूर्योपासना से ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति होती है। यह तभी संभव है जब कि इन दोनों मन्त्रों का प्रग्रन्थन इस प्रकार हो कि जिस से बृहती के तीन मन्त्र बन जावें। तीन मन्त्र बनाने के लिए वह ही नियम लागू होता है जो कि हम पूर्व में प्रदर्शित कर चुके हैं। अर्थात् [1]पूर्व मन्त्र के

१. पुनरपि तस्याश्चतुर्थपादमष्टाक्षरैर्द्विरावर्त्य इत-

चतुर्थ पाद (जीवा ज्योतिरशीमहि) को द्विरावर्तन कर के अगले मन्त्र का पूर्वार्द्ध मिला देना। वह इस प्रकार बन जायेगा।

जीवा ज्योतिरशीमहि जीवा ज्योतिरशीमहि। मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो मा शिवासो अवक्रमुः॥

यह एक नया मन्त्र बन गया। अब तीसरा मन्त्र भी इसी नियम से बनाया गया है। अर्थात् 'मा शिवासो अवक्रमुः' मन्त्र पाद को द्विरावर्तन कर के अगला मन्त्रार्ध मिला दिया तो यह मन्त्र बन जायेगा।

रस्या ऋच. प्रथमार्द्धेन विंशत्यक्षरेण सह प्रग्रथ्य षट् त्रिंशदक्षरा द्वितीया बृहती सम्पादनीया, तत्राप्यन्तिम पादमष्टाक्षर द्विरावर्त्य इतरार्द्धेन विंशत्यक्षरेण सह प्रग्रथ्य तृतीया बृहती सम्पादनीया। एव सति बृहत्या अतिक्रमो न भवति।

मा शिवासो अवक्रमुः मा शिवासो अवक्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽतिशूर तरामसि ॥

इस प्रकार यह तीसरा मन्त्र बन गया । अब विचारणीय यह है कि सो ऐसा क्यों किया गया ? इस सम्बन्ध में हम ऐतरेय ब्राह्मण का तत्सम्बन्धी प्रकरण यहा दिखाते हैं ।

"**तदाहुः सूर्यो नातिशस्यो बृहती नातिशस्या यत सूर्यमति शंसेद्, ब्रह्मवर्चसमति पद्येत यद् बृहती-मतिशंसेत् प्राणानति पद्येतेतीन्द्रं क्रतुं न आभरेत्येन्द्रं प्रगाथं शसति" शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि इत्यसौ वाव ज्योतिस्तेन सूर्यं नातिशंसति यद्‌ बार्हतः प्रगाथस्तेन बृहतीं नाति-शंसति ॥ ऐ० ब्रा० ४ । १०**

अर्थात् 'इन्द्र क्रतु न आभर" यह इन्द्र देवता का मन्त्र है । सूर्योपासक इन्द्र को सूर्य मानकर सूर्यो-पासना में इस मन्त्र का विनियोग करते हैं । यदि हम इन्द्र से सूर्य का तथा 'जीवा ज्योतिरशीमहि में "ज्योति" से सूर्य ज्योति का ग्रहण न कर इस मन्त्र में सूर्य को अतिक्रम करके किसी अन्य का

शंसन मानें तो इस से ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति न होगी। और ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति के लिये यह भी आवश्यक है कि मन्त्र मे बृहती छन्द का प्रगाथ हो। इस का प्रयोजन सायणाचार्य ने यह दिया है—

> सूर्यस्योपासकेषु ब्रह्मवर्चसप्रदत्वात्तदभिलंघने ब्रह्मवर्चसं नश्येत्।
>
> बृहत्याः प्राणरूपत्वात्तदतिलंघने प्राणान्विनाशयेदिति तेषामभिप्राय.॥

ऐ. ब्रा. सायणाचार्य ४। १०

अर्थात् सूर्योपासकों की यह धारणा है कि अमुक मन्त्र सूर्य परक होने से ब्रह्मवर्चस का देने वाला है। यदि उस का अतिक्रम किया जायेगा तो ब्रह्मवर्चस् नष्ट हो जायगा। बृहती प्राण रूप है यदि बृहती का लंघन होगा तो प्राण विनष्ट हो जायेंगे। बृहती प्राण सामान्य प्राण नही है जिस प्राण के निकल जाने पर शरीर पात होता है। ये ऊची भूमिका के प्राण हैं जहां ब्रह्मवर्चस की

उत्पत्ति होती है । बृहती प्राणों के विनाश का तात्पर्य यह है कि वे ऊंची भूमिका में न रहकर नीची सतह पर आ जायेंगे, जहा कि ब्रह्मवर्चस पैदा नही होता है ।

सूर्योपासना में अन्य छन्दों का भी परस्पर प्रग्रन्थन कर बार्हत प्रगाथ बनाने का आदेश दिया गया है । जैसे ऋ० १।२२।१३ की ऋचा गायत्री छन्द में है और दूसरी १।१६०।१ जगती छन्द की ऋचा है । इन दोनों का प्रग्रन्थन इस प्रकार करना कि बृहती छन्द बन जावे । वह इस प्रकार कि गायत्री छन्द के २४ अक्षर तथा जगती छन्द के ४८ अक्षर मिल कर ७२ अक्षर हो जाते हैं । इन को दो में विभक्त करने से ३६,३६ के दो बृहती छन्द बन जायेंगे । और उपर्युक्त दोनों मन्त्रो का देवता द्यावा पृथिवी है । पृथिवी मानव प्रतिष्ठा है । द्यु देव प्रतिष्ठा है । इस प्रकार सूर्य का यहा भी ग्रहण है । इस दृष्टि से सूर्य का अतिक्रम करके शसन नही है । इसी बात को ऐतरेय ब्राह्मण में इन शब्दों में कहा गया है ।

"**सूरचक्षस इति तेन सूर्यं नाति शंसति यद्‌ बार्हत प्रगाथः तेन बृहतीं नातिशंसति मही द्यौः पृथिवी च नस्ते हि द्यावापृथिवी विश्वशंभुवेति द्यावापृथिवीये शंसति द्यावापृथिवी वै प्रतिष्ठे इयमेवेह प्रतिष्ठासावमुत्र तद्‌ यद्‌ द्यावापृथिवीये शसति प्रतिष्ठयोरेवैनं तत्प्रतिष्ठापयति देवो देवी-धर्मणा सूर्यः शुचिरिति तेन सूर्यं नातिशंसति यद्‌ गायत्री च जगती च ते द्वे बृहतीं नाति शंसति**" ॥

ऐ ब्रा ४।१०

ये उपर्युक्त प्रकरण हमने यहां प्रदर्शित किये और सक्षेप में इस के भाव भी दिखा दिये। पाठक गण विस्तार से ऐतरेय ब्राह्मण के भाष्य को ही देखें। उपर्युक्त प्रकरण से दो तीन बातें विचारणीय हो जाती हैं।

एक तो यह कि पूर्व प्रदर्शित दोनों मन्त्र (ऋ ७।३२।२६,२७) पहले ही बृहती छन्द के प्रगाथ **हैं** तो क्या इस से अभीष्ट की सिद्धि न थी? इन मन्त्रों का एक विशिष्ट प्रग्रन्थन करके तीन मन्त्र बनाना क्या आवश्यक है? इन सब

बातों का उत्तर अनुभव व परीक्षण पर आश्रित है। यदि परीक्षणों से यह सही सिद्ध हो चुका है तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि संहिताओं के मन्त्र इस रूप में सामग्री है जिन को कि अभीष्ट की सिद्धि के लिये तोड़ा फोड़ा जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में दूसरा विचार यह पैदा होता है कि मन्त्रों के शब्दों का अर्थ छन्दों पर भी आश्रित है। उपर्युक्त मन्त्र में "इन्द्र" का सूर्य अर्थ तथा "ज्योति" से सूर्य की ज्योति का ग्रहण करना बृहती प्रगाथ पर ही आश्रित है। इस लिये मन्त्रार्थ करते हुए छन्दों पर भी विचार होना चाहिये। इस से शब्दों के क्षेत्र तथा उन के अर्थों की इयत्ता व सीमानिर्धारण करना आसान होगा।

तीसरी समस्या इस सम्बन्ध में यह है कि यदि प्रगाथ दो ऋचाओं का पारस्परिक ग्रन्थन है तो यह मानना पड़ेगा कि प्रगाथ छन्द मूल छन्द नही है। और फिर यह भी एक समस्या पैदा होती है कि संहिता में जो प्रगाथ हैं, जिन में दो ऋचाओ से तीन ऋचाएं तो नही बनायी गई हैं, पर दो

छन्दों को मिलाया गया है । जैसे उदाहरणार्थ ऋ० ८।९०,।९९ सूक्तों में विषमाबृहती तथा समा सतो बृहती इन दो छन्दों का परस्पर ग्रन्थन हुआ है । इन में प्रत्येक मन्त्र को छन्दों के आधार पर दो मन्त्र मानें या एक मानें ? क्योंकि प्रगाथ की दो व्युत्पत्तियाँ "प्रग्रथ्यते" या "अभिप्रागात्" अर्थात् एक ऋचा का दूसरी ऋचा में ग्रन्थन या एक ऋचा दूसरी ऋचा में प्रगतवती प्रकृष्ट रूप से गई हुई है – से यह सिद्ध होता है कि प्रगाथ छन्दों में दो ऋचाओं का पारस्परिक मेल हुआ है । इस से सहिताओं की मन्त्र सख्या की गणना किस प्रकार होनी चाहिये ? ब्राह्मणकारों व सूत्रकारों ने जो अनुष्ठान काल के लिये प्रगाथ बनाये हैं वे ऋषिकृत् होने से मन्त्र गणना में विचारणीय न भी हों पर जो स्वय वेद में विद्यमान हैं उन पर तो गम्भीरता से विचार करना ही होगा । प्रगाथ बनाने का स्वय सहिता में निर्देश हुआ है जैसा कि हमने यजु १५।३२,३३,३४। मन्त्रों का प्रगाथ निर्माण करने का तरीका ऊपर प्रदर्शित किया है और

यह निम्न मन्त्र भी निर्देश कर रहा है कि विनियोग की सिद्धि के लिये अभीष्ट मन्त्रों को इकट्ठा करो—

हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्नजात इत्येषः । यजु० ३२ ३

यह यजुर्वेद का मन्त्र है । इस में तीन मन्त्र समूहों की ओर स्पष्ट सकेत है इस से यह सिद्ध है कि वेद स्वय विनियोगानुसार मन्त्रों, मन्त्रभागों व मन्त्र समूहों के प्रग्रन्थन का आदेश देता है ।

प्रगाथ के सम्बन्ध में ये कुछ विचार हमने प्रकट किये । इस से इतना स्पष्ट है कि मन्त्रार्थों, मन्त्र विनियोगों व मन्त्रसिद्धियों में प्रगाथ का प्रमुख स्थान है ।

हमें इस सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिये कि जिन ऋचाओं में परस्पर ग्रन्थन दृष्टिगोचर होता है उन में वर्णित विषयों में भी ग्रन्थन है कि नही ? ब्राह्मणग्रन्थों में मन, प्राण, अपान आदि को प्रगाथ माना है । मन और प्राण आदि परस्पर

किस प्रकार ग्रथित हैं, इस पर हमें विचार करना चाहिये । दो वस्तुओं में ग्रन्थन आंशिक भी हो सकता है और पूर्णरूप से भी हो सकता है । माला में धागे व मनकों का एक प्रकार का ग्रन्थन है, सीढी में उस के पदो का एक दूसरे प्रकार का ग्रन्थन है । इस तरह ससार में हम अनेकों प्रकार के ग्रन्थन देखते हैं । संसार में बिना ग्रन्थन के कोई वस्तु रह नही सकती । हमने अपने अन्दर किस का ग्रन्थन करना है दैवी शक्ति का या आसुरी शक्ति का । यह सब बाते प्रगाथ पर विचार करते हुए हमें ध्यान में रखनी चाहिये । यहा हमने सक्षेप में प्रगाथ पर विचार किया है । विस्तृत विचार फिर कभी प्रस्तुत किया जायेगा ।

त्रिशोक ऋषि

कण्व सम्बन्धी कथानक में हम यह देख चुके हैं कि कण्व से बकासुर दुहिता में त्रिशोक व नभाक नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। अब हम यहां त्रिशोक के एक स्वरूप पर विचार करते हैं। त्रिशोक के सम्बन्ध में मन्त्रों के आधार पर दो तीन कथानक निर्मित हुए हैं। यथा—

याभिस्त्रिशोक उस्रिया उदाजत ॥

ऋ० १।११२।१२।

अश्वियों की कृपा से त्रिशोक ने असुरों से गौए प्राप्त की। (सायणाचार्य)

त्रिशोक आत्मीयाभिर्गोभिः सह स्वर्गं गा उदाजतेति। (वेंकट माधव)

अर्थात् त्रिशोक आत्मीय गौओं के साथ अश्वियों की कृपा से स्वर्ग में चला गया।

इन्द्र ने पहाड़ काट कर त्रिशोक की गौओं के

निकलने के लिए मार्ग बनाया। ऋ० ८।४५।३०

इन्द्र की आराधना करके त्रिशोक ने सैकडो अपने अनुचर बना लिये। अथ० २० ७६।२

त्रिशोक सम्बन्धी कुछ कथानक हमने यहा दिखाये हैं। अब हम इनका स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते हैं।

ताण्डय महाब्राह्मण मे त्रिशोक का वर्णन इस प्रकार आता है—

त्रैशोक ज्योगामयाविने ब्रह्म साम कुर्यात् ।।

त० ब्रा० ८।१।८।।

चिरकाल से रुग्ण पुरुष के लिये त्रिशोक नामक ब्रह्म साम करे।

अब विचारणीय यह है कि त्रिशोक क्या है? इस पर अगली कण्डिका मे कहा कि—

इमे वे लोका सहासस्तेऽशोचँस्तेषामिन्द्र एतेन साम्ना शुचमपहन्यत् त्रयाणा शोचतामपाहस्तस्मात् त्रैशोकम् ।। ता० ब्रा० ८ । १ । ६

ये लोक साथ-साथ थे। इन्हें शोक उत्पन्न हुआ। इन्द्र ने इस ब्रह्म साम द्वारा उनके शोक को दूर किया। क्योंकि इन तीनो लोको के शोक

को दूर किया गया इसलिये यह साम त्रैशोक नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जैमिनीय ब्राह्मण में भी त्रिशोक का भाव यही दिया है वहां लिखा है—

स ह वाव त्रिशोको यानेवामूंस्त्रींछोकानपाहन् सास्य त्रिशोकता ॥ जै. ब्रा. ३ । १९८

अर्थात् तीन शोकों को दूर करना ही त्रिशोकता है।

इस उपर्युक्त प्रकरण को हृदयंगम करने के लिये हमें पूर्वापर प्रकरण को देखते हुए इस पर विचार करना चाहिये।

ऊपर अभी यह कहा गया है कि यह त्रिशोक साम दीर्घरोगी को स्वस्थ करने के लिए किया जाता है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है कि ये तीन लोक आध्यात्मिक क्षेत्र में मस्तिष्क हृदय और उदर आदि शारीरिक लोक हैं। मनुष्य की स्वस्थ अवस्था में तीनों साथ-साथ रहते हैं। इनमें सामंजस्य, सहकारिता बनी रहती है । परन्तु जब इनमें किसी प्रकार का उपद्रव या विकार पैदा हो जाता है, तब ये शोकोत्पत्ति

में कारण बनते हैं। अब अगली कण्डिकाओं में यह बताया गया है कि ये शोक क्या हैं और दूर करने पर वे कहां चले जाते हैं ? वह प्रकरण इस प्रकार है--

यामस्मादपाहन् सा पुंश्चलीं प्राविशद् यामन्त-रिक्षात् सा क्लीबं याममुष्मात् सैनस्विनम् ॥

ता. ब्रा. ८।१।१०

जिस शोक को हमने पृथिवी लोक से अर्थात् उदरादि अंगों से दूर किया वह पुश्चली (व्यभिचारिणी) स्त्री में जा प्रविष्ट हो गया । और जिसको अन्तरिक्ष अर्थात् हृदय से दूर किया वह क्लीब (नपुसक) पुरुष में प्रविष्ट हो गया । और जिसको द्युलोक (मस्तिष्क) से दूर किया, वह पापी व्यक्ति में प्रविष्ट हो गया।

यहा पर शोक से दो भाव लेने हैं एक तो शरीर का शोषण करने वाली चिन्ता और दूसरा शोकोत्पत्ति में हेतु भूत शारीरिक विकृतियां व पाप आदि। शरीर के पार्थिव लोक में उदर व गुह्य अङ्ग आते हैं। इन में से शोक अर्थात् शोकोत्पत्ति के हेतुभूत विकृतियों व व्याधियों को

दूर कर दिया जाये तो वे कहां रहेंगे ? इसका समाधान ब्राह्मणकार ने आलंकारिक रूप में इस प्रकार किया है कि वे शोक पुंश्चली स्त्री में रहेंगे । पुंश्चली स्त्री एक पुरुष से दूसरे पुरुष के पास घूमने वाली व्यभिचारिणी स्त्री होती है । व्यभिचारिणी स्त्री को योनि व उदर सम्बन्धी अनेकों व्याधियां लग जाना स्वाभाविक है । अत. ये दोष व्यभिचारिणी स्त्री मे रहने स्वाभाविक हैं । पर जो व्यक्ति अपने को सदुपायों द्वारा शुद्ध व निरोग कर लेगा, उसमें ये नहीं रहेंगे । उन्हीं सदुपायों में यह त्रैशोक साम भी है । शोक का चिन्ता अर्थ लेने पर भी व्यभिचारिणी स्त्री इसके अधिक उपयुक्त है । क्योंकि बिमारी, लोकलाज, समाजभय आदि के कारण वह अधिक चिन्ताग्रस्त रहती है । यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री का ग्रहण क्यों किया ? इसका कारण स्पष्ट है । व्यभिचार के कारण पुरुष की अपेक्षा स्त्री अधिक पीडित होती है । गर्भपात व गर्भस्राव आदि योनि सम्बन्धी बीमारियां तो स्त्री में होती हैं और स्त्री स्वभाव से लज्जाशील होती है । अतः शोक व चिन्ता की वे

अधिक शिकार बनती है।

'याम्न्तरिक्षात् सा क्लीबम्'

जो शोक अन्तरिक्ष (हृदय) से निकाला गया वह क्लीब अर्थात् नपुंसक में जा प्रविष्ट हुआ।

अन्तरिक्ष आध्यात्मिक क्षेत्र में शरीर के मध्य भाग को कहते हैं जहां कि हृदय मन व हाथ आदि का सम्बन्ध है। इनमें से यदि शोक को दूर किया जाये तो वह कहां रहेगा ? इसका उत्तर ब्राह्मणकार ने यह दिया कि वह क्लीब अर्थात् नपुंसक में रहेगा। मनुष्य की नपुंसकता में प्रमुख रूप से मन ही कारण होता है ? नपुंसक व्यक्ति का मन बहुत संकुचित, उथला डरपोक व संकल्प विकल्प करने वाला होता है। पुरुषत्व का वहां बिलकुल स्थान नहीं। इसलिये तदनुकूल साधनों द्वारा मनुष्य जब पुरुषार्थी व विशाल हृदय बन जाता है, तब वह शोक वहां से निकल जाता है। नपुंसक व्यक्ति में ही उसका निवास होता है।

'याममुष्मात् सेनस्विनम्'

जिस शोक को द्युलोक में से दूर किया वह पापी व्यक्ति में जा पहुँचा। यहां द्युलोक मस्तिष्क

हैं। पाप का विशेष सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। मस्तिष्क को शान्त रखना, बुद्धि को श्रेष्ठ कार्यों में लगाना तथा अच्छे विचारों को प्रोत्साहन देना आदि बातों से मस्तिष्क सम्बन्धी शोक दूर होता है। परन्तु पापी आदमी बिल्कुल इसके विपरीत होता है, उसके विचार पवित्र नहीं होते। वह सदा बुद्धि का प्रयोग दुरभिसन्धियों तथा षड्यन्त्रों के निर्माण में करता है। अतः वह इनके दुष्परिणामों को भोगता है।

आगे कहा है—

तस्मात्तेषां नाशंतव्या य एषामाशामेति तस्या एव शुचोऽपभजते ॥ ता. ब्रा. ८।१।११

इस कारण इन अङ्गों की आशाएं पूरी नहीं करनी चाहिये। जो व्यक्ति इनकी आशाओं को पूरी करता है, वह शोक का भी भागी बनता है। और जो इनकी आशाओं को पूरी नहीं करता वह इनके शोक को दूर भगाता है।

शुचा एव विद्धो यस्य ज्योगामयति यत् त्रैशोकं ब्रह्म साम भवति ॥

ता. ब्रा. ८। १। १२

जो चिरकाल से बीमार होता है, समझ लो वह शोक से विद्ध है। शोक को दूर करने के लिये ही त्रैशोक नामक ब्रह्म साम किया जाता है।

इस त्रैशोक नामक ब्रह्म साम के प्रयोग का समय दिन है और दिन में भी उषाकाल। जैसा कि ब्राह्मण में कहा है कि---

"दिवेति निधनमुपयन्ति व्युष्टिर्वै दिवा व्येवास्मै वासयति।" अर्थात् ब्रह्म साम का निधन स्थितिस्थान दिन है और दिन मे भी उषाकाल में त्रैशोक ब्रह्म साम का प्रयोग करने से प्रयोक्ता रोगी के शोक को (विवासयति) निकाल बाहिर करता है। समग्र दिन में प्रभात वेला का समय ऐसा है जब कि प्राय. सब बीमारियां शान्त हो जाती हैं। दुष्ट से दुष्ट मनुष्य का मन भी कुछ समय के लिए शान्त हो जाता है। प्रकृति में भी चहुँ ओर शान्ति छा जाती है। अत: इस समय तीनों प्रकार के तापों को दूर करने के सभी साधन प्राय: सफल होते हैं। सामगान द्वारा इन तीनो प्रकार के तापों को दूर करने के लिये विश्वासी व्यक्ति को इस सम्बन्ध में परीक्षण करके इसकी उपयुक्तता सिद्ध करनी चाहिये।

ताण्ड्य महाब्राह्मण में त्रैशोक सम्बन्धी और भी वर्णन हुआ है। उसे भी सक्षेप मे यहाँ दिखाते हैं। वहाँ आता है—

त्रैशोक ब्रह्म साम भवति ॥

ता० ब्रा० १२।१०।२०

आगे कहा—

अतिजगतीषु स्तुवन्त्यह्न उत्क्रान्त्या उद्वा एतेनाह्ना क्रामन्ति ॥

ता० ब्रा० १२। १०। २१

अर्थात् त्रिशोक सम्बन्धी ब्रह्म साम द्वारा स्तुति मे अतिजगती छन्दों का प्रयोग किया जाता है। इसके लिये अतिजगती छन्द मे विद्यमान विश्वा पृतना ऋ० ८।९७।१० ऋचा द्वारा स्तुति करते हैं। किसलिये ? अहन् की उत्क्रान्ति के लिए अर्थात् इस चतुर्थ अहन् से ऊर्ध्व गति होती है। इस अतिजगती छन्द वाली ऋचा का एक प्रयोजन और बताया गया है वह इस प्रकार है—

विश्वा पृतना अभिभूतरं नरं इत्यतिजगती वर्षीयश्छन्द, आक्रमतेऽनपभ्रंशाय ॥

ता० ब्रा० १२।१०।२

अर्थात् विश्वा: पृतना. यह ऋचा अतिजगती छन्द में है। और यह छन्द बड़ा छन्द है। यह चतुर्थ अहन् का आलम्बन करता है अर्थात् चतुर्थ अहन् को सहारा देता है किसलिये ? अनपभ्रंशाय अपभ्रंश—अधःपतन से बचने के लिये। अपभ्रंश व अधःपतन का क्या भाव है ? इसको आगे और भी स्पष्ट किया है।

वहाँ आता है—

अपभ्रंश इव वा एष यज्ज्यायसश्छन्दसः कनीयश्छन्द उपैति यदेषा चतुर्थेऽहन्यतिजगती क्रियतेऽनपभ्रंशाय ॥ ता० ब्रा० १२।१०।३

अर्थात् बड़े छन्द से छोटे छन्द में आना यह अपभ्रंश है। चतुर्थ अहन् में अतिजगती छन्द वाली जो ऋचा विश्वा पृतना. बोली जाती है, वह अपभ्रंश से बचने के लिये है।

अब विचारणीय यह है कि अतिजगती छन्द अपभ्रंश से किस प्रकार बचाता है ? चतुर्थ अहन् क्या है ? अहन् की उत्क्रान्ति क्या है ? इत्यादि परिभाषाए स्पष्ट हो जायें तो त्रिशोक से इनका क्या सम्बन्ध है यह भी स्पष्ट हो जायेगा।

छन्द विषय पर विस्तृत विचार तो फिर होगा यहाँ हम केवल सकेत किये देते हैं । छन्द परिधि सीमा व घेरे को कहते हैं (छादनात्) शत० ८।४।२।१ में आता है "यदच्छदय-स्तस्माच्छन्दांसि" अर्थात् आच्छादन के कारण छन्द कहलाते हैं। लोक में छन्दों के अपने-अपने क्षेत्र परिधि व सीमाए हैं। जो ऋचा जिस छन्द में होती है और छन्द द्वारा जो क्षेत्र व परिधि बताई गई होती है, वहाँ तक का वह ऋचा वर्णन करती है।

इसी आधार पर जगती छन्द को देखते हैं– शत० १।८।२।११ में आता है–"तदिदं सर्व जगदस्यां तेनेय जगती" अर्थात् यह सपूर्ण जगत् इसमें समाविष्ट है इसलिये यह जगती कहलाती है।

इसका भाव यह हुआ कि जगती छन्द वाली ऋचा का क्षेत्र सपूर्ण जगत् है। अर्थात् इस मन्त्र को इस सपूर्ण जगत् में लगा सकते हैं। इसी प्रकार अतिजगती छन्द जगती का ही विशेष रूप है। छन्दों के विशिष्ट रूपों को अतिच्छन्द कहते हैं। दैवत ब्राह्मण में कहा है– "अतिछन्दांश्छन्देरर्थे" दै० ब्रा० ३ १८ अर्थात् अतिच्छन्दों को छन्द अर्थ

में ही घटाया जाता है। विशेषता केवल यही होती है कि क्षेत्र तो वही होता है परन्तु थोडा और अतिक्रम कर जाते हैं। जगती सपूर्ण सृष्टि है अतिजगती कुछ और अतिक्रम कर जाती है।

आगे चतुर्थ अहन् क्या है? इस सम्बन्ध मे भी हम संकेत किये देते हैं।

चतुर्थस्याह्नो बृहत् ॥ ता० ब्रा० २१।६।१६
आदित्यलोक एव चतुर्थमह । जं ० ब्रा० ३ ७०

अर्थात् चतुर्थ अहन् बृहत् है, आदित्य लोक व द्युलोक है। इस आदित्य लोक पर आसीन हुआ व्यक्ति यदि जगती छन्द को छोड कर किसी छोटे छन्द में आता है तो वह उसका अपभ्रंश व अध पतन ही है। इस आधार पर हम अतिजगती छन्द वाले मन्त्र में आये 'विश्वाः पृतनाः अभिभूतर' मे पृतनाः शब्द से जगत् के समग्र शत्रुओं का ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार मानवपिण्ड के सिर हृदय और उदर आदि सभी क्षेत्रों के शत्रुओं का इस मन्त्र से ग्रहण हो सकता है। अब इस मन्त्र का "त्रिशोक" मे इस प्रकार समन्वय कर सकते हैं कि तीनो प्रकार के शोकों को पैदा करने वाले

बाह्य जगत् व अन्तर्जगत् के सभी शत्रुओं को अभिभव करने का इस मन्त्र में विधान है ऐसा हमें समझना चाहिये ।

अब हम त्रिशोक जिन मन्त्रोंका ऋषि है, उन पर भी कुछ विचार करते हैं। ऋग्वेद ८ मण्डल ४५ सूक्त का ऋषि "त्रिशोक" है । इसका तात्पर्य यह हुआ सिर, मन, उदर आदि तीनों स्थानों के शोकों को दूर करने की दृष्टि से इस सूक्त पर विचार होना चाहिये ।

यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से सूक्त की रचना पर दृष्टिपात करे तो हमे एक रहस्य का पता चलता है और वह यह कि सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों और समाप्ति के तीन मन्त्रो की रचना में एक विशेषता है और वह यह कि प्रथम तीन मन्त्रों के अन्त में **येषामिन्द्रो युवा सखा** अर्थात् जिनका युवा इन्द्र सखा होता है । उनके तीनों प्रकार के शोक दूर हो जाते हैं। यह तीनों क्षेत्रों मस्तिष्क, मन और उदर तथा तीनो लोकों में विद्यमान शत्रुओं के विनाश को दर्शाने के लिये तीन बार तीन मन्त्रों में पढा है । इसी प्रकार जिनके शत्रु तीनों क्षेत्रों से दूर हो गये हैं, उनके तीनों अंगों

में 'वसु स्पार्ह तदा भर' स्पृहणीय ऐश्वर्य भर जाता है । यह संक्षिप्त भाव हमने यहाँ दिखाया । विस्तार से तभी दिखाया जायेगा जब कि संपूर्ण सूक्त का अर्थ किया जायेगा ।

उपर्युक्त सूक्त के रहस्य को त्रिशोक की निम्न व्युत्पत्ति के आधार पर भी समझ सकते हैं । वह यह है कि "त्रिषु स्थानेषु शोको दीप्ति-र्यस्य" अर्थात् तीन स्थानों में शुचिता वाली दीप्ति जिसके अन्दर प्रकट हो गई है । यहाँ त्रैशोक शब्द शुच् दीप्तौ धातु से निष्पन्न हुआ समझना चाहिये। शोक शब्द दीप्ति अर्थ में भी आता है (यजु. १३। ३५) । मस्तिष्क के तीनों स्थान अर्थात् तीनो मस्तिष्क [मस्तिष्क, अनुमस्तिष्क, सुषुम्ना शीर्षक] एक २ लोक से सम्बन्ध रखते हैं । इन तीनों में चेतना सम्बन्धी शुचिता व दीप्ति का प्रकट होना त्रिशोक का रूप है । इन तीनों में दीप्ति का प्राकट्य अश्वी देवों की कृपा से होता है । अश्वी देव सञ्ज्ञा-वाहक व क्रियावाहक नाड़ियों द्वारा कार्य करते हैं । शरीर में चेतना की स्थिति व उसका प्राकट्य इन्हीं के कारण है । हमारे मस्तिष्क में सहस्रों प्रकार की ज्ञानरश्मियाँ प्रच्छन्न रूप में विद्यमान हैं

उन पर से आवरण का विनाश तथा दिव्य चेतना का उद्बोधन अश्वियों की कृपा से होता है। ऋ० ८।४५।३० मन्त्र में 'पृथु गिरि' मस्तिष्क सम्बन्धी पहाड़ है उसकी गुफा का भेदन कर ज्योति के निकलने के लिए मार्ग बनाना इन्द्र का कार्य है। दिव्य मन इन्द्र है। मन में दिव्यता का आविर्भाव उस समय होता है जब सब प्रकार के सकल्प विकल्प मन से दूर हो जाते हैं और मन में एकाग्रता व अन्तर्मुखी अवस्था प्रादुर्भूत हो जाती है। इस अवस्था में मन को मस्तिष्क की गुफाओं में प्रविष्ट करना उनके भेदन का उपाय है। तीनों मस्तिष्कों में जब शुचिता व दीप्ति प्रादुर्भूत हो जाती है तब इस अवस्था को त्रिशोक नाम से कहा गया है। सहस्रों प्रकार की दिव्य शक्तियाँ इसकी अनुचर होती हैं। इस प्रकार हमने त्रिशोक के स्वरूप पर विचार किया।

*

विष्णु-देवता : सम्मति

लेखक : श्री भगवद्दत्त जी वेदालङ्कार

'विष्णु-देवता' मिली । चित्त प्रसन्न हुआ । आपने विष्णु के सम्बन्ध में उपलब्ध वैदिक-सामग्री के आधार पर बहुत ही अच्छा समन्वयात्मक विचार किया है । विष्णु के त्रेधा विक्रमण के सम्बन्ध में आपने सूक्ष्म दृष्टि से सोचा है । मुझे इसे देख कर हर्ष हुआ ।

शुभेच्छु

वासुदेवशरण अग्रवाल

◈ ◈ ◈

'विष्णु-देवता' पर आपको कोटिशः बधाइयां । पुस्तक खूब लिखी है । विष्णु का विष्णुत्व इसमें फड़क उठा है । एक बार फिर बधाई ।

आपका वशवद

डा. सूर्यकान्त

वैदिक-स्वप्न-विज्ञान तथा ऋभुदेवता

लेखक : श्री भगवद्दत्त वेदालङ्कार

यह लेखमाला ग्रोंध के 'वैदिक-धर्म' में निकल चुकी है। आगरा जेल में हमको 'वैदिक-धर्म' देखने को मिलता था। उसी में हमने इस लेखमाला को पढ़ा था। हिन्दी साहित्य में स्वप्न विषय पर कोई ग्रन्थ देखने में नहीं आया। लेखक का परिश्रम स्तुत्य है। —नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ

◈ ◈ ◈

श्री प भगवद्दत्त जी वेदालङ्कार द्वारा लिखित 'ऋभुदेवता' और 'वैदिक-स्.‍ न-विज्ञान' को ध्यानपूर्वक पढ़ा है। इन्हें पढ़ कर मैंने अनुभव किया है कि पडित जी में स्वाध्याय-शीलता, लगन तथा परिश्रम के साथ मौलिक-विचार करने की शक्ति ने मिल कर सोने में सुहागे का काम किया है। 'वैदिक-स्वप्न-विज्ञान' में स्वप्न के कारण, उसके भेद, दु:ष्वप्न-निवारण आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर शरीर-शास्त्र तथा मनोविज्ञान आदि की दृष्टि से सुन्दर तथा गम्भीर विचार किया गया है। मन्त्रार्थ योजना भी उत्तम है। प्रो. वागीश्वर विद्यालंकार